श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

के

कुछ भाव पुष्प

उषा गाड़ोदिया

निवेदन

भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने श्री मुख से उद्धव गीता में कहा है –'जो लोग संसार से भयभीत हैं उनके लिए संत जन ही परम आश्रय हैं। जैसे सूर्य आकाश में उदय होकर प्राणियों को देखने की क्षमता प्रदान करता है, वैसे ही संत अपने आप को और भगवान को देखने के लिए अन्तर्दृष्टि देते हैं। उद्धव, अधिक क्या कहूं, स्वयं मैं ही इन संतों के रूप में विद्यमान हूं।'

उद्धव गीता की इस व्याख्या में प्रस्तुत भाव-पुष्प ऐसे ही संतों और भक्तों की वाणी-वाटिका से ही संचित हैं। कहीं तो नाम विशेष का उल्लेख हुआ है कहीं नहीं, किन्तु समस्त भाव वे ही हैं जो मुझे किसी न किसी संत-भक्त से ही प्राप्त हुए हैं। इन्हीं से प्राप्त पुष्पों की यह माला इन्हीं को प्रणाम पूर्वक समर्पित ......

उषा गाड़ोदिया

राधा अष्टमी

२६-८-२०२०

उद्धव गीता

अनुक्रम

परिचय	4
भागवत धर्म	19
उद्धव जी की प्रार्थना	37
अवधूत कथा	46
बद्ध, मुक्त और भक्त	62
भक्ति के साधन	75
भक्ति - पारस मणि	93
कर्म ज्ञान और भक्ति	107
सिद्धियों का वर्णन	124
परम संत, परम योग, परम रस	133
मानसी साधना – ध्यान	155
भगवद् दर्शन	184
भगवान से भाव-संबंध	198
विदा	238

श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

परिचय

हम सभी श्रीमद् भगवद्गीता से तो परिचित हैं जो भगवान श्रीकृष्ण ने महाभारत युद्ध के पहले अर्जुन को सुनाई थी, किंतु उद्धव गीता के विषय में हम बहुत कम जानते हैं । यह भगवद् गीता से भी अधिक विस्तृत है । भगवद् गीता की लगभग सभी बातें यहां भी हैं पर और भी बहुत कुछ है । यह प्रसंग भागवत महापुराण के ग्यारहवें स्कन्ध में है। प्रायः भागवत सप्ताह कथा करने वाले इस प्रसंग तक कम ही पहुंच पाते हैं, अथवा बहुत संक्षेप में चर्चा मात्र कर के छोड़ देते हैं। यह प्रसंग अत्यंत सारगर्भित है और हमलोगों के जानने योग्य भी। हम इसमें अवगाहन करते हुए बस कुछ ऐसी ही बातें

देखने-समझने का प्रयास करेंगे जो हम साधारण जनों के लिए बहुत विचारणीय है और बहुत उपयोगी भी।

'गीता' का अर्थ है - गाया गया गीत । भगवद्गीता भगवान कृष्ण ने गाई इसलिए इसे भगवत्-गीता कहा गया। उद्धव गीता भी भगवान कृष्ण ने ही गाई है, किन्तु इसका नामकरण वक्ता के अनुसार न होकर श्रोता के अनुसार किया गया है। अवश्य ही यह श्रोता की महिमा को दर्शाता है, अतः सर्वप्रथम उद्धव जी के बारे में कुछ जान लें। उनके विषय में भगवान ने स्वयं अपने श्री मुख से कहा है- 'उद्धव, मुझे तुम्हारे जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं, उतने प्रिय मेरे ही पुत्र ब्रम्हा, शंकर, सगे भाई बलराम जी, स्वयं लक्ष्मी जी और मेरा आत्मा भी नहीं है'। (११.१४.१५)

उद्धव जी वसुदेव जी के भाई देवभाग जी के पुत्र थे। बचपन से ही उनके मन में श्री कृष्ण के प्रति अत्यंत अनुराग था। भगवान जब वृंदावन से मथुरा पधारे तब से ही उद्धव उनके नित्य सखा बन गए। वे भगवान का ही उच्छिष्ट भोजन खाते, उनके ही प्रसादी वस्त्र पहनते, उनकी उतारी हुई माला धारण करते। उठते-बैठते, सोते- जागते, घूमते-फिरते उनके

ही साथ रहते । उनका रूप भी भगवान कृष्ण जैसा ही था । उन्होंने साक्षात् देवगुरु बृहस्पति से ब्रम्ह विद्या प्राप्त की थी ।

साधारणतः हमलोग उद्धव जी के बारे में यही जानते हैं कि उन्हें अपनी विद्या का बड़ा गुमान था और वे भगवान को ही समझाने लगे कि साक्षात् परब्रह्म होते हुए भी आप व्रज वासियों और गोपियों के लिए व्याकुल होते हैं, यह बात मुझे ठीक नहीं लगती । भगवान ने कहा - 'उद्धव, वे मेरे प्राण प्यारे भक्त हैं । वे मेरे वियोग में अत्यंत व्याकुल हैं । मेरा भक्त मेरे लिए व्याकुल होगा तो निश्चित रूप से मैं भी उसके लिए व्याकुल होऊंगा ही, क्योंकि मेरा प्रण है - ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् - जो मेरे लिए जैसा भाव रखता है, वैसा ही मैं उसके लिए रखता हूं' । उद्धव जी के मन में आया कि यदि गोपियों को यह ज्ञान दे दिया जाए कि श्रीकृष्ण तो सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, परमात्मा हैं, वे तो सदा उनके हृदय में भी विराजते हैं, उनसे तो वियोग हो ही नहीं सकता, तो उनका विरह और दुःख मिट जाएगा ।

भगवान ने समझ लिया कि मेरा यह सखा ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर तो पहुंचा है परन्तु प्रेम सुधा सिंधु में कभी

डुबकी तक नहीं लगाई। इसके बिना कोरे ज्ञान का क्या मोल है? वे अपने इस सखा में कोई कमी नहीं रहने देना चाहते थे, अतः प्रेम का पाठ पढ़ाने उन्हें व्रज भेजा। उद्धव जी व्रज में गोपियों को ज्ञान सिखाने गए पर स्वयं प्रेम का पाठ पढ कर आए और उनकी पद रज मस्तक पर धारण की।

भागवत का यह प्रसंग सुन कर उद्धव जी के लिए मन में बड़ी विशिष्टता का भाव नहीं आता, बस यही छवि बनती है कि उन्हें अपने ज्ञान का बड़ा घमंड था और गोपियों ने उस घमंड को तार तार कर दिया। यह हमारी अल्पज्ञता है, क्योंकि हमने उनसे संबंधित अन्य प्रसंगों को कभी सुना ही नहीं। व्रज यात्रा के बाद वे ज्ञान और प्रेम, दोनों से परिपूर्ण हो चुके थे। उनके बारे में स्वयं भगवान ने ही कहा था कि उद्धव मुझसे किसी भी बात में किन्चित भी न्यून नहीं है। उनकी महत्ता के कारण ही इस प्रसंग को उद्धव गीता नाम दिया गया है।

पृष्ठभूमि

भगवान श्रीकृष्ण ने भू-भार हरण के लिए अवतार लिया था। उनका उद्देश्य केवल कंस को मारना ही नहीं था। उस समय पृथ्वी पर चारों ओर शस्त्र बल बहुत बढ गया था। बड़े-बड़े अस्त्र शस्त्र जमा कर वे वीर बहुत निरंकुश, उच्छृंखल और अत्याचारी बन गए थे इसलिए उनका नियंत्रण बहुत आवश्यक हो गया था। कंस के वध के बाद भी भगवान ने जरासंध के साथ सत्रह बार युद्ध करके अनेक दुष्टों का संहार किया, फिर द्वारिका आने के बाद भी यह क्रम चलता ही रहा। रही सही कसर महाभारत के युद्ध में पूरी हो गई। अब उनके अवतार का प्रयोजन लगभग पूरा हो चुका था, किंतु उनका अपना यादव कुल अभी भी बहुत बलशाली था और उच्छृंखल भी हो चला था। भगवान ने अपनी लीला संवरण के पहले अपने ही कुल के संहार की जो योजना रची वह अनासक्ति की पराकाष्ठा है।

उद्धव जी को समझ में आ गया कि भगवान अब इस धरा धाम को छोड़कर जाना चाहते हैं। जो उद्धव गोपियों को

विरह से व्याकुल न होने का उपदेश देने गए थे, वे आज विरह की आशंका से ही परम व्याकुल हो गए।

भगवान सदा की भांति शान्त-प्रसन्न मुद्रा में विराज रहे हैं और व्याकुल उद्धव उनके निकट आते हैं। फिर जो परस्पर संवाद हुआ वही उद्धव गीता है।

यहां हम भगवद्गीता और उद्धव गीता के मुख्य अन्तर को समझें। अर्जुन भी व्याकुल थे और उद्धव भी। अर्जुन मोह के कारण व्याकुल थे और उद्धव प्रेम के कारण। अर्जुन स्वजनों के बिना जीना नहीं चाहते और उद्धव भगवान के बिना रहना नहीं चाहते। अर्जुन रणक्षेत्र से पलायन करना चाहते थे और भगवान का उपदेश उन्हें युद्ध में प्रवृत्त कर अपने धर्म और कर्तव्य का निर्वाह कराने के लिए था। उस समय चारों ओर कोलाहल था, रणभेरी भी बज चुकी थी। ऐसे समय प्रवृत्ति का ही उपदेश दिया जा सकता है, निवृत्ति का नहीं। ऐसे में भगवान ने वैराग्य, संन्यास आदि की बात कही भी है तो बड़ी सावधानी के साथ, ताकि अर्जुन के पलायनवाद को बल न मिले।

किंतु उद्धव की स्थिति बिलकुल अलग है। इस अवस्था में भी वे ज्ञान में पूरी तरह प्रतिष्ठित हैं। वे कहते हैं- 'प्रभो, जब पृथ्वी तल से आप अपनी लीला का संवरण कर लेंगे तब तो धर्म का लोप हो जाएगा तो फिर उसे कौन बताएगा? आप सब धर्म के मर्मज्ञ हैं, इसलिए प्रभो, आप उस धर्म का वर्णन कीजिए जो आपकी भक्ति प्राप्त कराने वाला है, और यह भी बताइये कि किसके लिए उसका कैसा विधान है'।(११.१७.६)

उत्तर में भगवान ने जो ज्ञान दिया वही उद्धव गीता कहलाता है। इसमें लगभग वे सारी बातें हैं जो उन्होंने भगवद्गीता में कही थी, क्योंकि सत्य तो कभी बदलता नहीं। भगवद्गीता की भांति सांख्य योग, कर्म योग, ज्ञान योग, भक्ति योग प्रकृति-पुरुष का विवेचन, विभूतियों का वर्णन, योग मार्ग से परम तत्व की प्राप्ति, सत्त्व-रजस-तमस का विवेचन आदि सब कुछ लगभग वैसा ही है। भगवद् गीता के अंत में उन्होंने 'मामेकं शरणं व्रज' का उपदेश दिया था और उद्धव गीता के अंत में भी यही कहते हैं - 'जिस समय मनुष्य समस्त कर्मों का परित्याग करके मुझे आत्म समर्पण कर देता

है, उस समय मैं उसे जीवत्व से छुड़ा देता हूं और वह मुझसे मिल कर मेरा स्वरूप हो जाता है'।(११.२९.३४)

लेकिन एक बड़ा अंतर यह है कि उद्धव बीच बीच में आग्रह करते रहते हैं कि प्रभो, आपने अभी जो कहा वह अत्यंत श्रेष्ठ है, किंतु इसका पालन अत्यंत कठिन है और विरले ही कर सकते हैं। आप ज्ञान का उपदेश इस प्रकार से करें कि जो विषयों के चिन्तन और सेवन में ही लगे हुए हैं, जिनकी बुद्धि 'मैं-मेरा' के भाव में लगी हुई रहती है, जो देह और देह के सम्बन्धी - स्त्री, पुत्र और धन आदि के चिन्तन में डूबे रहते हैं, वे भी सुगमता पूर्वक साधन कर सकें।

अर्जुन ने प्रार्थना की थी - 'भगवन्, आप मुझे वह बताइये जिससे मेरा कल्याण हो'। उद्धव ने प्रार्थना की – 'भगवन्, आप वह बताइये जिससे मायाबद्ध जीव का कल्याण हो'।

यहां दोनों का तुलनात्मक विवेचन किसी ग्रंथ को श्रेष्ठ या कनिष्ठ बताने के लिए नहीं है। भगवान कृष्ण स्वयं परिपूर्ण ब्रह्म हैं। उनके द्वारा दिया गया ज्ञान भी परिपूर्ण होगा ही, लेकिन परिस्थिति और शिष्य की पात्रता के अनुसार गुरु

की प्रस्तुति में अंतर होना ही चाहिए । हमें देखना है कि हमारी स्थिति और मानसिकता कैसी है । यह विषय अगले अध्याय में और स्पष्ट होगा, पर इतना तो स्वीकार हम करेंगे ही कि हम मायाबद्ध जीव हैं, अतः हम जैसों के लिए उद्धव जी की प्रार्थना पर भगवान ने अवश्य ही दिव्य रत्न प्रकट किये हैं । ये ऐसे रत्न हैं कि गहरे पानी पैठ कर भी पूर्ण रूप से पाया नहीं जा सकता, पर हम कुछ भावों का अवलोकन कर सकते हैं ।

भगवान तो इतने दयालु हैं कि उन्हें हमारा छोटा सा ही प्रयास अपेक्षित है । वे घनश्याम तो कृपा बरसाने आतुर ही रहते हैं । उद्धव गीता के कुछ भाव हमारे हृदय के भी भाव-पुष्प बन जाएं और इनकी माला बना कर भगवान श्रीकृष्ण को समर्पित करें तो वे अवश्य प्रसन्न होंगे । जैसे कोई छोटी बालिका बगीचे से कुछ रंग बिरंगे पुष्प चुन लाती है और उनकी माला पिरोती है तो तो भले ही उसमें वे पुष्प रंग और आकार का मेल कराए बगैर ही गूंथ दिए गए हों, मां तो उसके भावों से ही प्रसन्न हो जाती है ।

उद्धव गीता के अंत में भगवान ने कहा भी है - उद्धव, जो पुरुष मेरे भक्तों को इसे स्पष्ट कर के समझाएगा, उसे मैं प्रसन्न मन से अपना स्वरूप तक दे डालूंगा, उसे आत्मज्ञान करा दूंगा और जो इसे श्रद्धा के साथ एकाग्रचित्त हो कर सुनेगा, उसे मेरी परा भक्ति की प्राप्ति होगी और वह कर्म बंधन से मुक्त हो जाएगा ।

प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म

पिछले अध्याय में एक बात आई कि युद्ध भूमि में भगवान श्री कृष्ण को अर्जुन को प्रवृत्ति धर्म का उपदेश देना था, निवृत्ति धर्म का नहीं । इन दोनों का अंतर और महत्व ठीक से समझ लेना चाहिए ।

प्रवृत्ति का अर्थ है, लगना - कर्म में प्रवृत्त होना। निवृत्ति का अर्थ है - छूटना। जैसे हम रिटायर होने को कहते हैं - सेवा निवृत्त होना। ये दोनों परस्पर विरोधी हैं, पर दोनों ही

आवश्यक हैं। हमें 'लगना' भी आना चाहिए और 'छूटना' भी। कार में एक्सीलरेटर बहुत बढ़िया हो तो वह बहुत जल्दी तेज गति पकड़ सकती है। ऐसी कार को हम बढ़िया कहते हैं, पर उस कार का ब्रेक भी उतना ही शक्तिशाली होना चाहिए। हम ड्राइविंग सीखने जाएं तो ट्रेनर को यह नहीं कह सकते कि मैं तो गाड़ी चलाना सीखने आया हूं, रोकना क्यों सिखा रहे हैं? गाड़ी को दौड़ाने के साथ रोकना भी आना चाहिए वर्ना सर्वनाश निश्चित है।

हमारे लिए प्रवृत्ति धर्म का अर्थ वह धर्म है जिसका पालन हमें कार्य में व्यस्त रहते हुए करना है। इसमें जीवन यापन के लिए धन कमाने के साथ परिवार में सबके प्रति अपने कर्तव्य, समाज की भलाई, गुरु जनों का सम्मान, कर्म के उत्साह, लगन, निष्ठा, ईमानदारी आदि अनेक बातें आती हैं। इन्हें करना आवश्यक है, करना ही चाहिए। भगवद्गीता में भगवान ने इसे स्व-धर्म का नाम दिया है और इसी का प्रतिपादन मुख्य रूप से किया है, क्योंकि उनका उद्देश्य ही यही था कि जो अर्जुन अपने स्वधर्म अर्थात् क्षत्रिय धर्म से

विमुख हो कर युद्ध न करने की बात कह रहा है, उसे युद्ध में प्रवृत्त किया जाए।

किंतु युद्ध सदा के लिए नहीं चलता। महाभारत का युद्ध भी अठारह दिन के बाद समाप्त हो गया। तब अर्जुन को उस युद्ध से निवृत्त भी होना था। उसकी भूल यही थी कि वह युद्ध से पहले ही निवृत्त हो रहा था। प्रवृत्ति-निवृत्ति का भी क्रम है। प्रवृत्ति के पहले निवृत्ति कैसी? और प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति आवश्यक है।

हमारे दैनिक जीवन को ही देख लें। सुबह सुबह अपने नित्य कर्म और भगवान की पूजा उपासना कर अपने कार्य क्षेत्र में उत्साह के साथ जाते हैं, उस समय योजना बनाते रहते है कि आज यह करना है, ऐसे करना है। पूरी लगन और मेहनत के साथ आठ-दस घंटे काम में लगे रहते हैं। संध्या काल आते आते हमारी सोच उलटी चलने लगती है - अब आफिस बंद करना है, घर जाना है। कुछ मनोरंजन, रात का भोजन और फिर बिछौने में घुस कर आराम से सोना। जागना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक सोना भी है। आफिस खोलना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक

संध्या में उसे बंद करना भी है। हम बडे नियम से इस क्रम को निभाते हैं।

बस यही बात हमारे सम्पूर्ण जीवन में भी होनी चाहिए। जीवन की पहली पारी में प्रवृत्ति धर्म का होना आवश्यक है। हमें खूब परिश्रम करके अनेक प्रकार की विद्या प्राप्त करनी है और युवावस्था में विद्या का उपयोग करके परिवार के भरण पोषण के लिए धन भी कमाना है, परिवार में सबके प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह भी करना है, साथ ही समाज और राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य की अनदेखी भी नहीं करनी, और सबसे कठिन काम - दिन प्रति दिन सामने आती चुनौतियों के बीच अपना संतुलन भी बनाए रखना है। भगवद्गीता हमें यही कला सिखाती है अतः यह युवाओं के लिए विशेष उपयोगी है। वहां भगवान कृष्ण अर्जुन को बार बार कहते हैं-

अर्जुन, हृदय की दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़ा हो जा - क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ परंतप।

कुछ देर बाद फिर कहते हैं- अर्जुन, तू युद्ध के लिए निश्चय करके खड़ा हो जा - तस्मात्व उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय।

फिर कला बताते हैं - सुख-दुख, हानि-लाभ, जय-पराजय में सम होकर युद्ध करो।

पूरे अठारह अध्यायों में वे जीवन के रण को सफलता पूर्वक लड़ने की कला बताते हुए अर्जुन को लड़ने के लिए तैयार कर ही लेते हैं । ऐसी बात नहीं कि उन्होंने संन्यास, भक्ति, समर्पण, शरणागति आदि की बातें नहीं कही हैं । ये बातें भी बहुत खूबसूरती से बताई गई हैं, इनके अलावा जन्म- मृत्यु, पिछले जन्म, अगले जन्म, इनमें कर्म की भूमिका, जीव और परमात्मा का संबंध आदि अनेक बातें हैं जिन्हें हमें जानना ही चाहिए ताकि हमारा जीवन सफल, सुंदर और शांतिमय हो। किंतु भगवान का मुख्य उद्देश्य अर्जुन को प्रवृत्ति धर्म बताना था जिसकी आवश्यकता उस समय उसे थी, अतः विशेष बल कर्म पर ही देते हुए जान पड़ते हैं । हर प्रकार के ज्ञान के विवेचन के बाद वे कर्म की महत्ता की बात करने लगते हैं ।

जीवन की दूसरी पारी में जब अपना शरीर शिथिल पडने लगता है उस समय यदि यह धारणा बन जाए कि भगवान तो यही कहते हैं -'कर्म करो, कर्म करो'; तो हमारा क्या होगा?

हमारी अगली पीढी कर्म के लिए उत्साहित है और चाहती है कि अब हम निवृत्त हो जाएं पर हम अंतिम क्षण तक पहले की भांति कर्म करते रहने में ही जीवन का गौरव देखते हैं और निवृत्त होना नहीं चाहते । होना पड़ता ही है तो डिप्रेशन में आ जाते हैं । वास्तव में गीता को ठीक से समझा जाए, विचार पूर्वक भगवान के उपदेशों का अनुसरण किया जाए तो जीवन की संध्या आते आते निवृत्ति सहज ही हो जाती है, लेकिन हम हठधर्मिता या नासमझी के कारण अपने जीवन को बिना ब्रेक की कार की भांति चलाते हैं ।

हमें संसार छोड़ने की बात तो बिलकुल भी नहीं सुहाती । हमें संसार छोड़ने की आवश्यकता ही कहां है? संसार की परिभाषा ही है - संसरति इति संसारः, अर्थात् जो पल पल सरकता रहता है उसे संसार कहते हैं । संसार ही हमें छोड़ता जाता है और हम पकड़ने की कोशिश करते रहते हैं, पर हाथ कुछ नहीं आता । वास्तव में तो हमें इसे पकड़ने का निष्फल प्रयत्न छोड़ने की कला सीखनी है - इसे ही कहते हैं संसार में रहते हुए संसार से छूटना, इसे ही कहते हैं निवृत्ति धर्म ।

उद्धव गीता में हमें जीवन के सभी रंग देखने को मिलते हैं, किंतु विशेष रूप से निवृत्ति धर्म का ही विस्तार है।

***

श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

भागवत धर्म

उद्धव गीता के विस्तृत अध्ययन के पहले भागवत धर्म के विषय में कुछ समझ लेना अच्छा रहेगा।

भागवत धर्म का मूल है - भगवान के प्रति निश्छल, निष्कपट, विशुद्ध प्रेम जो किसी सुख पाने की आशा से न किया जाए। यदि ऐसा प्रेम हो जाए तो वह महात्मा जो भी

करता है, वह भागवत धर्म है; अथवा ऐसा प्रेम पाने के लिए जो करना चाहिए उसे भागवत धर्म कहते हैं। एक उदाहरण से थोड़ा बहुत समझ सकते हैं। एक छोटे बच्चे की मां रात-दिन अपने शिशु के लिए ही कुछ न कुछ करती रहती है या उसका चिंतन करती रहती है। यह बड़ा स्वाभाविक है, सभी मांएं सहज रूप से ऐसा करती हैं। यदि उनसे पूछो कि तुम ऐसा क्यों करती हो, तो वह कुछ नहीं बता सकती। बहुत सोच विचार कर कह सकती है - क्योंकि इस बालक में मेरा प्रेम है। अब इसके आगे यदि पूछ लिया जाए कि तुम्हें इससे प्रेम क्यों है, तो इसका उत्तर संसार की कोई मां नहीं दे सकती।

इसे ही कहते हैं अहैतुकी प्रेम, इसका कोई हेतु अर्थात् प्रयोजन नहीं, कोई कारण नहीं, यह प्रेम है, बस। ऐसे प्रेम से लटी पटी मां अपने शिशु के लिए जो भी करती है, वह सब सहज मातृ-धर्म है जिसे सीखने की भी आवश्यकता नहीं होती उसे। किसी भी गर्भवती महिला को बहुत सी बातें बड़े लोग सिखाते हैं, लेकिन यह कोई नहीं सिखाता कि तुम अपने बच्चे से प्रेम करना। यह प्रेम तो सहज स्वाभाविक है।

ऐसा ही प्रेम हमारा भगवान के प्रति हो - जिसका कोई प्रयोजन नहीं। बस प्रेम है, और जहां प्रेम है, वहां बस उनकी प्रसन्नता के लिए ही कुछ करने का चिंतन है । यही है भागवत धर्म - उनकी कृपा के आश्रय से, उनका ही भरोसा मन में रखते हुए, उनकी प्रसन्नता के लिए कर्म करते हुए उन्हें ही समर्पित करना।

भगवद्गीता में धर्म, अधर्म, स्वधर्म, परधर्म, निष्काम कर्म, कर्तव्य कर्म आदि की चर्चा विस्तृत रूप से की गई है । भगवान ने इस समर्पण वाले भागवत धर्म की भी बात कहीं कहीं की है, जैसे -

सातवें अध्याय में कहा- **मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रय -** अर्जुन, मुझसे आसक्ति करो और मेरा ही आश्रय लेकर कर्म करो।

नवें अध्याय में कहा - **यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् । यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मत् अर्पणम् -** जो तुम करते हो, जो खाते हो, जो सत्कर्म करते हो, जो दान करते हो, वह सब मुझे अर्पण करते हुए करो।

मन्मना भव मद्भक्त- अपना मन मुझे दे दो, मेरे भक्त बन जाओ, यह बात तो दो स्थानों पर कही है।

दसवें अध्याय में तो बहुत ही सुन्दर बात कही कि जिनके चित्त मुझमें लगे हैं, जिसके प्राण मुझमें लगे हैं, जो मिलने पर परस्पर मेरी ही बात कहते सुनते हैं, रमे रहते हैं और बड़े सुख का अनुभव करते हैं, ऐसे मेरे भक्तों को मैं ऐसी बुद्धि देता हूं जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

इनके अलावा भी कई स्थानों पर ऐसी बातें कही हैं। ये सब भागवत धर्म की ही बातें हैं, पर भागवत धर्म के नाम से कोई चर्चा भगवान ने स्वतंत्र रूप से नहीं की जैसी उन्होंने उद्धव जी के सामने की है। भागवत के अन्य अनेक प्रसंगों में विभिन्न संत महात्माओं के द्वारा भी यह चर्चा विशेष रूप से की गई है।

इसमें भी एक रहस्य है। भागवत के प्राकट्य की कथा है कि महर्षि वेदव्यास जी ने वेदों को चार भागों में संकलित कर लिया, उन्हें अपने एक एक शिष्य को पढा भी दिया, अठारह पुराणों की भी रचना कर ली, महाभारत लिखा जिसके अन्तर्गत श्रीकृष्ण-अर्जुन के संवाद के रूप में गीता प्रकट हुई,

पर इतना सब करके भी उनको कृतकृत्यता की अनुभूति नहीं हो रही थी। ऐसा नहीं लग रहा था कि जीवन में जो कुछ मुझे करना चाहिए था वह सब हो गया है। इसी चिंतन में खिन्न मन से वे अपने आश्रम में बैठे थे।

उसी समय देवर्षि नारद उनके सम्मुख प्रकट हुए। उन्होंने कहा - महर्षि, मैं देख रहा हूं कि आप कुछ उदास हैं। वेदव्यास जी ने अपने हृदय की वेदना उनके सामने प्रकट कर दी और निवारण का उपाय पूछा।

नारद जी ने कहा - महर्षि, यह सच है कि आपने अपने जीवन में अनेक ऐसे ग्रंथों की रचना की है जिन्हें बस आप ही कर सकते हैं, पर एक कमी रह गई। सभी ग्रंथों में आपका उद्देश्य यही रहा कि मनुष्य को धर्म के मार्ग पर कैसे लगाया जाए। महाभारत में तो आपने धर्म-अधर्म की चर्चा बहुत विस्तार से की है। महाभारत के सभी पात्र धर्म-अधर्म के जंजाल में घिरे हुए दिखाई देते हैं। भीष्म पितामह के मुख से अंत समय में युधिष्ठिर को धर्म का उपदेश दिला राज धर्म, क्षत्रिय धर्म, स्त्री धर्म, पुत्र धर्म, वर्णाश्रम धर्म आदि सभी की विवेचना प्रस्तुत कर दी। इन सबके बीच भगवान के प्रति प्रेम

और समर्पण की बात आंशिक रूप से आई तो है, लेकिन मुख्य रूप से नहीं। जीवन का परम विश्राम तो भगवान कृष्ण के प्रति विशुद्ध प्रेम और समर्पण से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए अब आप एक ऐसे ग्रंथ की रचना करें जिसमें इस भागवत धर्म का ही निरूपण हो, जो भगवत् प्रेम के रस का भंडार हो और जो भक्तों के लिए कर्ण रसायन हो।

कर्ण रसायन का अर्थ है वह ओषधि जो कान में डाली जाती है। इसलिए नारद जी के उपदेश के बाद महर्षि वेदव्यास जी ने श्रीमद्भागवत महापुराण की रचना की जिसे रस-आलयम् और कर्ण-रसायन कहा गया है। इसे तो सुनने मात्र से भव रोग दूर होते हैं,क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण स्वयं कान के रास्ते हृदय में आ जाते हैं - ऐसी अद्भुत है यह भागवती कथा।

'भागवत' शब्द का अर्थ है- भगवान के भक्त। भागवती कथा मुख्यतः भगवान के भक्तों की ही कथा है। भक्त की कथा में तो भगवान की कथा अपने आप आ ही जाती है। इस ग्रंथ में स्थान स्थान पर भगवान के प्यारे भक्तों द्वारा 'भागवत धर्म' पर वार्तालाप मिलता है और उद्धव गीता के

उपसंहार के रूप में भगवान कृष्ण ने स्वयं इसे समझाया है, पर ग्यारहवें स्कन्ध के प्रारम्भ में ही नव योगीश्वर संवाद में इसका परिचय बहुत ही स्पष्टता के साथ आया है। महाराज निमि की यज्ञ शाला में भगवान के परम प्रिय भक्त नौ योगीश्वर विचरण करते हुए आ पहुंचे। राजा निमि ने उनका सत्कार करते हुए अत्यंत विनय के साथ भागवत धर्म के उपदेश की प्रार्थना की। इस विषय में सबसे पहले योगीश्वर कवि जी ने बतलाया कि भगवान ने भोले भाले अज्ञानी पुरुषों को भी सुगमता से अपनी प्राप्ति के लिए जो उपाय स्वयं अपने श्री मुख से बतलाए हैं उन्हें ही भागवत धर्म समझो। इसमें विधि-विधान में कुछ त्रुटि रह जाने पर भी भक्त का पतन नहीं होता। भागवत धर्म का पालन करने वाले के लिए यह नियम नहीं है कि वह किसी विशेष प्रकार का कर्म ही करे। वह शरीर से, वाणी से, मन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से, अहंकार से, अनेक जन्मों अथवा एक जन्म की आदतों से, या स्वभाव वश जो जो करे, वह सब भगवान नारायण के लिए ही है - इस भाव से उन्हें समर्पण कर दे। भागवत में ही

भागवत धर्म की सरल से सरल व्याख्या इस श्लोक में बताई गई है ।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा

बुद्ध्याऽऽत् मना वानुसृतस्वभावात्।

करोति यद् यत् सकलं परस्मै

नारायणायेति समर्पयेत् तत्॥११.२.३६॥

उन्होंने आगे बताया कि देह और देह के संबंधों में ही तन्मयता होने के कारण ही बुढापा, मृत्यु, रोग आदि अनेकों भय होते हैं, इसलिए विचारवान पुरुष को चाहिए कि सांसारिक कर्मों के सम्बन्ध में संकल्प-विकल्प करने वाले मन को रोक ले । किंतु मन की तो प्रकृति ही स्थिर और विचार शून्य होना है ही नहीं, इसलिए संसार में भगवान के जन्म और लीलाओं की जो अनेक कथाएं प्रसिद्ध हैं, उनको सुनते रहना चाहिए । उन गुणों और लीलाओं का स्मरण दिलाने वाले भगवान के बहुत से नाम भी प्रसिद्ध हैं, लाज संकोच छोड़ कर उनका गान करते रहना चाहिए । इससे भगवान के प्रति अनुराग का अंकुर उग आता है । नाम कीर्तन

से धीरे-धीरे भक्त का चित्त द्रवित होने लगता है। फिर वह साधारण लोगों की मान्यताओं से परे हो जाता है। दम्भ से नहीं, स्वभाव से ही वह मतवाला सा हो जाता है। कभी-कभी वह खिलखिला कर हंसने लगता है, कभी रोने लगता है, कभी मधुर स्वरों से उनका गुणगान करने लगता है। कभी-कभी वह प्रियतम को अपने सामने अनुभव करता है, तब उन्हें रिझाने के लिए नृत्य भी करने लगता है। कभी 'सभी रूपों में स्वयं भगवान ही प्रकट हैं' ऐसा समझ कर सबको भगवद् भाव से प्रणाम करने लगता है।

जैसे भोजन के प्रत्येक ग्रास के साथ तुष्टि, पुष्टि और भूख की निवृत्ति, तीनों साथ साथ होती है उसी प्रकार जो मनुष्य भगवान की शरण लेकर भगवान का भजन करने लगता है, उसे भजन के प्रत्येक क्षण में भगवान के प्रति अनुराग, संसार के प्रति वैराग्य और भगवान के स्वरूप की अनुभूति - ये तीनों साथ साथ प्राप्त होते हैं। तब वह भागवत हो जाता है और परम सुख-शान्ति का अनुभव करने लगता है।

भागवत धर्म का संक्षिप्त परिचय यही है। इसे भगवान ने उद्धव जी को किस प्रकार विस्तार से बताया है, यही हम विशेष रूप से देखेंगे।

लेकिन इसके पहले ऐसे ही कुछ भक्तों के साथ अपने कुछ अनुभव साझा करने का लोभ हो रहा है।

बचपन की एक सखी थी मेरी। बाद में उसके विषय में बस इतना सुना था कि वह घर गृहस्थी त्याग कर वृंदावन रहने लगी। बताने वाले ने इतना और बताया था कि वह अन्य सखियों के साथ प्रतिदिन निधिवन में झाड़ू देने जाती है, जिसे वे लोग सोहनी सेवा कहते हैं। निधिवन ही वह स्थान है जहां ठाकुर बांके विहारी जी स्वामी हरिदास जी के सम्मुख प्रकट हुए थे और आज भी प्रत्येक रात्रि वहां रास करते हैं। उनके सुकुमार चरणों में कोई कंकरी या कांटा न चुभ जाए इसलिए बहुत सावधानी पूर्वक यह सेवा की जाती है।

बहुत लम्बे काल के बाद मुझे वृंदावन जाने का अवसर मिला तो यही जानकारी काम आई और मैंने उसे निधिवन में ढूंढ ही लिया। दो तीन दिन कुछ समय उसके साथ व्यतीत करने का अवसर मिला। ये क्षण मेरे लिए अनमोल हैं। मैंने

उससे पूछा - सखी, तुमने अपना जीवन विहारी जी की सेवा में लगा दिया, तुम उनसे क्या चाहती हो? उसने मेरे पति की ओर इंगित करते हुए कहा - उषा मैं इनसे भला क्या चाह सकती हूं?

मैंने कहा - क्या मतलब? मैं कुछ समझी नहीं।

तब उसने बताया कि मैं तो प्रिया जू (श्री राधा रानी) की दासी हूं जिसे वे अपनी उदारता वश सखी मानती हैं। मैं तो बस यही चाह सकती हूं कि मेरी स्वामिनी जू अपने प्रियतम के साथ सुखपूर्वक, आनन्द पूर्वक रहे। उनके सुख में ही हमारा सुख है।

मैं तो हतप्रभ रह गई। ऐसी बात मैंने कभी नहीं सुनी थी, कभी कल्पना भी नहीं की थी। भगवान के मंदिर में जा कर हम कुछ न कुछ तो मांगते ही हैं। कोई विशेष मांग न भी करें तो इतना तो कहते ही हैं – प्रभु हमपर दया करना, कृपा बनाए रखना। कोई बहुत निष्काम हो तो यह कह सकता है कि भगवन्, आप जो भी देंगे वह मुझे स्वीकार है। लेकिन विहारी जी प्रसन्नता पूर्वक विहारिन जी के साथ रमण करें, इस भाव पर अपना जीवन, अपना यौवन लुटा देना! कुछ तो

विलक्षण सुख बिना चाहे ही मिलता ही होगा। भले मैं समझ नहीं पाई पर उसकी बातों ने मेरी चेतना को झकझोर दिया था।

अगले दिन संयोगवश मंदिर में ही मिल गई । हम दोनों दर्शन कर रहे थे । उसने कहा - 'मेरी समझ में एक बात नहीं आती कि लोग यह क्यों प्रार्थना करते हैं कि भगवान दर्शन दो । वे दर्शन दे तो रहे हैं सामने खड़े'।

सच कहूं तो उसकी बात मेरी समझ में नहीं आई । मुझे तो विहारी जी के विग्रह के ही दर्शन हो रहे थे, उसे साक्षात् विहारी जी दिखलाई दे रहे थे । मुझ जैसा अनाड़ी क्या समझे इन बातों को !

स्वामी हरिदास जी की परम्परा का जो स्थान है उसे टटिया स्थान कहते हैं । वहां हमने पूछा - क्या हमें महन्त जी के दर्शन हो सकते हैं? उत्तर मिला - हां हां, क्यों नहीं । चार बजे आइये न, महाराज जी यहां मंदिर में ठाकुर जी के लाड लडाते हैं । आपको ठाकुर जी के दर्शन भी होंगे और उनके भी ।

‘ठाकुर जी के लाड लडाना!’ मैं ‘पूजा करना,’ ‘प्रार्थना करना, ’‘स्तुति करना’ इत्यादि तो समझती थी पर भगवान के ‘लाड’ की बात तो मेरी समझ से परे थी। मेरी सखी की बात पर एक और मुहर लग गई।

एक संत झूलन का पद गा रहे थे -

झूलें नवल हिंडोले। पिया प्यारी संग बनठन श्याम।

इस पद में झूलते हुए श्री राधा-कृष्ण का बहुत सुन्दर वर्णन था और अंतिम पंक्तियाँ थी -

शीश को नवाए इष्ट को मनाइके मुनीश।

बार बार विनय करत जोरि जोरि।

नृपति किशोर और किशोरी जू आनन्द रहे।

एहि हमार मन काम।

इसका अर्थ है - श्याम जू को श्यामा जू संग सावन की हल्की हल्की फुहारों के बीच झूलते देख कर मुनिगण आनन्दित हो रहे हैं और अपने अपने इष्ट देवों को बार बार सिर नवा कर प्रणाम करते हैं, और यही मनोकामना करते हैं कि ये प्रिया-प्रीतम सदा आनन्द में रहें।

मैं फिर चक्कर में पड़ गई - कितना बड़ा दिल है इन भक्तों का! ये भगवान से अपने सुख के लिए प्रार्थना नहीं करते, ये तो अपने इष्ट देव से भगवान के सुख के लिए प्रार्थना करते हैं!

इन भक्तों की बात मुझे जरा भी समझ नहीं आ रही थी, पर इनकी बातों में छलकता प्रेम-भक्ति रस अवश्य दिखाई पड़ रहा था। अब तो इस रस की प्यास, तृष्णा, लालसा क्षण क्षण बढने लगी थी।

शायद विहारी जी ने ही कुछ योजना बनाई। मैंने भजनों की एक पुस्तक खरीदी। उसमें ‘ललित विहारिणी’ छाप से कुछ लीला के पद अत्यंत सुंदर थे। मैंने देखा-वृंदावन के ही हरिनाम प्रेस में छपी हुई थी। न जाने कैसे मै उनका धन्यवाद करने पहुंच गई। भव्य कार्यालय था। वहां श्री गिरिराज नांगिया जी मिले। उन्होंने पूछा - ‘इनसे मिलेंगी?’

‘आप जानते हैं इन्हें?’

‘ये मेरे पिताजी हैं’।

'ओह! मैंने तो समझा था कि ये सूरदास जी के समय के ही कोई संत होंगे' ।

वे थे हरिनाम प्रेस के संस्थापक श्री श्याम दास जी। एक छोटे से कमरे में साधारण टेबल कुर्सी पर बैठे उस समय भी कोई पद रचना ही कर रहे थे। उन्होंने बताया कि विभाजन के समय लाहौर से आए थे। पंजाबी होते हुए भी बंगला भाषा सीख कर चैतन्य महाप्रभु के परिकरों के दिव्य ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद करते रहते।

उनके साथ मुझे चर्चा करने का अवसर मिला तो उन्होंने इस दिव्य प्रेमा भक्ति की बात समझाई। बताया कि हमारे शास्त्रों में चार पुरुषार्थ की बात आई है - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। लेकिन इनमें से कुछ भी न चाहते हुए भगवान कृष्ण का प्रेम - हम वृंदावन वाले इसे पंचम पुरुषार्थ मानते हैं। यही परम पुरुषार्थ है। ऐसा भी कह सकते हैं कि जब मोक्ष तक की भी कामना नहीं रहती तब ही ऐसा प्रेम प्राप्त होता है।

उन्होंने समझाया - भगवान कृष्ण को पाने की लालसा मत करो, उनके प्रति प्रेम हो - इसकी लालसा करो। मैंने पूछा- कैसे हो ऐसा प्रेम? उन्होंने कहा - देखो, बिना मोल के

कुछ नहीं मिलता। इस परम फल के लिए भी कुछ मोल तो देना ही होगा। वह मोल क्या है, पूछने पर बताया - **तस्य लौल्यम् एकम् मूल्यम् । बस उत्कट लालसा ही उसका मूल्य है।** पिता के समान उन्होंने बहुत सी बातें समझाई । संसार में हम कुछ भी हासिल करना चाहते हैं तो केवल चाहने मात्र से वह नहीं मिल जाता है । उसके लिए परिश्रम करना पड़ता है । कभी कभी तो परिश्रम से भी नहीं मिलता । एक किसान बहुत परिश्रम करके खेती करता है, फसल पक कर तैयार हो जाती है तो प्रसन्न होकर उसे काटने की तैयारी भी कर लेता है, पर अचानक बारिश और ओले पड़ने से सब कुछ मिट्टी में मिल जाता है । भगवद् भक्ति ही एकमात्र ऐसी चीज है जो केवल चाहने से मिलती है, पर यह चाह उत्कट होनी चाहिए। ऐसी लालसा हो कि बस यही चाहिए, और कुछ भी नहीं । इस सम्बन्ध में मेरे सभी प्रश्नों का समाधान उन्होंने किया । मेरी ग्रन्थियां धीरे धीरे खुल रही थी और चाह भी अंकुरित होने होने लगी थी ।

जैसा उन्होंने बताया कि भगवान साधन साध्य नहीं, कृपा साध्य हैं, तो श्री राधा जू ने कृपा की तो दो चार बार जाना

आना रहा और फिर दो वर्ष तक वृंदावन वास का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। संतों की कथा भी खूब मिली और आशीर्वाद भी। विशेष कर मलूक पीठाधीश्वर श्री राजेन्द्र दास महाराज जी के प्रवचनों से इस भागवत धर्म की बातें कुछ कुछ समझ में आने लगीं।

एक महत्वपूर्ण बात तो यह समझ में आई कि यदि हम अपना लक्ष्य भगवत् प्राप्ति मान कर भजन साधन करेंगे तो जब तक अपनी भावना के अनुरूप दर्शन या अनुभूति नहीं होती तब तक लगेगा कि इतने वर्ष हो गए, अभी तक तो कुछ नहीं हुआ; पर यदि लक्ष्य भगवत् प्रेम की प्राप्ति का हो तो वह जीवन में कभी एक बार घटने वाली घटना नहीं है। प्रेम की वृद्धि का अनुभव तो दिने दिने नवम् नवम् हो सकता है। इससे आशा की जोत जगमगाती रहती है । यहां मंजिल और राह अलग अलग नहीं है - यही राह ये ही मंजिल है। हृदय में उठने वाली भगवत् प्रेम की हर स्फुरणा एक दिव्य रस की सृष्टि करती है वृंदावन के ये सिद्ध भक्त सम्भवतः ऐसे ही रस में लटे-पटे-छके रहते होंगे।

प्रायः तो ये भक्त इस भक्ति रसामृत सिंधु में ऐसे डूबे रहते हैं कि –

मन मस्त मगन मन मस्त मगन अब क्या बोले।

हीरा पाया गांठ गठियाया बार बार अब क्यों खोले।

किंतु संत कबीर, गोस्वामी बिंदु जी आदि कुछ महात्मा ऐसे हुए हैं जिनकी वाणियों में कुछ संकेत मिलता है। बिंदु जी ने गाया -

पता प्रेम के सिंधु का पा रहा हूं

कि इक बिंदु में ही बहा जा रहा हूं।

उनके द्वारा रचे गए अनेक ग्रंथों में से वर्तमान में एक भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु ऐसे ही विलक्षण भावमय पदों का संग्रह 'मोहन-मोहनी' सभी प्रमुख पुस्तक केन्द्रों पर उपलब्ध है।

एक स्थान पर वे कहते हैं-

मोहन और मोहन मस्तों के दिल का मिलता कोई राज नहीं।

भीतर ही बातें होती हैं बाहर आती आवाज नहीं।

हम संसारी भी यदि मस्ती की पाठशाला में प्रवेश चाहते हैं तो ऐसे भक्तों की ही शरण लेनी होगी।

***

श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

उद्धव जी की प्रार्थना

भगवान कृष्ण ने जब धरा धाम को छोड़ कर जाने का निश्चय किया तो यह उनकी ही लीला थी कि उनके पुत्रों के द्वारा ऋषियों का अपमान हुआ और भयंकर विनाश का शाप मिला। द्वारिका में घोर अपशकुन होने लगे। सभी घबराए हुए थे। उद्धव जी को आभास हो गया कि भगवान अब इस

धरा धाम को छोड़कर जाना चाहते हैं। वे बड़े व्याकुल होकर भगवान के पास आए। ये बातें हमने उद्धव गीता के परिचय में देखी थी। अब हम इस अनुपम संवाद से कुछ ऐसे भाव पुष्प चुनने का प्रयास करेंगे जो हम साधारण जनों के लिए विशेष उपयोगी हैं।

एक बड़ा सुंदर सूत्र हमें प्रारंभ में ही मिलता है। जब उद्धव जी ने व्याकुल हो कर भगवान से कहा कि मैं आपके बिना कैसे रहूंगा, आप मुझे भी अपने धाम ले चलिए, तो भगवान ने पूछा - उद्धव क्या तुम्हें मेरी माया से डर लगता है? इसके उत्तर में उद्धव जी ने दो बड़ी सुंदर बातें कही। पहली तो यह कि भगवन्, हमने तो भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि सब कुछ आपके प्रसाद के रूप में ही पाया है। इसके बल पर हम आपकी माया पर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे। हमें डर आपकी माया का नहीं है, डर केवल आपके वियोग का है।

इस संसार में रहते हुए भी संसार के काम, क्रोध, लोभ, भय आदि से निर्लिप्त रहने को ही कहते हैं माया के पार जाना। जब तक जीवन है, हम संसार को छोड़ तो सकते नहीं,

किन्तु काम, क्रोध, मोह, भय आदि के कारण होने वाले क्लेशों से अवश्य ही छूटना चाहते हैं । इसीको कहते हैं संसार में रहते हुए भी संसार से निवृत्ति। शास्त्रीय भाषा में इसे ही कहते हैं माया के पार जाना। संतों की भाषा में इसे कहते हैं – संसार में रहना पर संसार को अपने मन में नहीं रखना।

उद्धव जी के कथन से यह सूत्र मिलता है कि हम यह धारणा बना कर रखें कि जो कुछ भी धन-सम्पत्ति, कुटुंब-परिवार, सुख-दुख आदि मिले हैं, वे सब भगवान का प्रसाद है हमारे लिए। हम उन्हें प्रसाद बुद्धि से ग्रहण करें तो भगवान की माया के पार जा सकते हैं।

इसके अन्तर्गत तीन बातें हैं-

१. प्रसाद सदा आदर के साथ स्वीकार किया जाता है, चाहे पेड़ा मिले या बताशा।

२. प्रसाद में कोई मीन-मेख नहीं निकाला जाता।

३. प्रसाद को सदा बांट कर पाया जाता है। यदि अपने को एक किनका भी मिले तो उसे ही मस्तक पर लगा कर पाते हैं और अपने आप को धन्य समझते हैं।

यानि यदि हम दुख में भी शिकायत न करें, उसे भी भगवान की इच्छा मान कर धैर्य के साथ स्वीकार करें, तथा अपनी सम्पत्ति और सुख का उपभोग भी सबको बांटते हुए करें तो हम अवश्य ही माया के पार जाने में समर्थ होंगे।

दूसरी बात उन्होंने यह कही कि भगवन्, माया के पार जाने के लिए बड़े-बड़े ऋषि मुनि कठिन साधनाएं करते हैं तब उनका मन निर्मल होता है। हम तो कर्म मार्ग में ही भटक रहे हैं, परन्तु इतना निश्चित है कि हम आपके भक्त जनों के साथ आपके गुणों की चर्चा करेंगे, आपकी लीलाओं का चिंतन करेंगे और आपकी चलन, चितवन, हसन, बोलन की स्मृति में तल्लीन हो जाएंगे तो इसीसे आपकी दुस्तर माया को पार कर लेंगे।(११.६.४८-४९)

कितनी सरलता से उद्धव जी ने हम लोगों के लिए ऐसा साधन बता दिया जो कितना आसान है और आसान होते हुए ऋषि मुनियों की कठोर तपस्या से भी अधिक प्रभावी है।

उद्धव जी स्वयं जितने बड़े ज्ञानी हैं उतने ही बड़े भक्त भी हैं। वे स्वयं ही सब प्रश्नों के उत्तर जानते हैं, लेकिन उन्हें यह रहस्य हम सबके कल्याण के लिए स्वयं भगवान के मुख से

विस्तार से प्रकट करवाना है। भगवान अपनी प्राप्ति का उपाय अपने श्री मुख से कहें तो उसकी प्रामाणिकता पर कोई विवाद नहीं रह सकता।

उद्धव गीता के अध्ययन में हम विशेष रूप से इसी बिंदु पर चिंतन करेंगे क्योंकि संसार के बीच रहते हुए सबसे सुगम, सरस और निर्मल साधन यही है।

व्याकुल उद्धव जी को भगवान ने बताया कि पृथ्वी पर वे जिस कार्य के लिए आए थे वह पूरा हो चुका है। 'आज से सातवें दिन यदुवंश आपस में लड़ कर नष्ट हो जाएगा और द्वारिका समुद्र में डूब जाएगी। जिस क्षण मैं मृत्यु लोक का त्याग कर दूंगा, उसी क्षण से सारे मंगल नष्ट हो जाएंगे और थोड़े ही दिनों में कलियुग का बोलबाला हो जाएगा'।

उनके इस कथन से एक सुंदर भाव पुष्प मिलता है कि कलियुग तो अपने पांव फैलाने को आतुर ही रहता है, पर जहां भगवान के चरण हैं, वहां वह अपने पैर नहीं रख सकता। हम सब इसी कलियुग में ही जी रहे हैं, अभी तो पांच लाख में से केवल पांच हजार साल ही बीते हैं, आगे तो बहुत घोर स्थिति आने वाली है। अभी कम से कम भगवान के भक्तों

को विशेष रूप से प्रताड़ित नहीं किया जा रहा । अभी हमें संतों का संग और भगवत् कथा तो मिल रही है, और भागवत कहती है कि कथा के माध्यम से भगवान कानों के रास्ते हृदय में प्रवेश कर जाते हैं । क्यों न हम यही प्रार्थना करते रहें कि भगवन् आप ही इस हृदय में विराजो, इसे छोड़ कर मत जाओ । भगवान अवश्य ही पुकार सुनेंगे और उन हृदय विहारी के प्रभाव से कलियुग हमारे हृदय में प्रवेश नहीं कर पाएगा ।

सत्य युग, त्रेता युग, द्वापर युग के साथ-साथ घोर पापमय कलियुग की व्यवस्था भी भगवान के द्वारा ही की गई है । इस युग की एक बड़ी महत्ता है कि भगवत् प्राप्ति के लिए बड़े बड़े तप नहीं करने पड़ते, केवल भगवन्नाम से ही हमारा उद्धार हो सकता है । अतः भगवान मुरली मनोहर को हृदय में पधरा कर उनका नाम लेते रहें । कलियुग का लाभ भी मिलेगा और कलियुग के दुर्गुण भी प्रभावित नहीं कर पाएंगे ।

इसके बाद भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के सातवें अध्याय से उद्धव गीता का उपदेश आरंभ होता है ।

भगवान ने उद्धव जी को कहा कि तुम अपने आत्मीय स्वजन और बंधु-बांधवों का स्नेह संबंध छोड़ दो और अनन्य प्रेम से मुझमें मन लगा कर समदृष्टि से स्वच्छंद विचरण करो।(११.७.६)

यह कहते हुए भगवान ने तत्वज्ञान का प्रतिपादन किया और संन्यास रूपी त्याग का उपदेश किया।

उद्धव जी तो भगवान के प्रति अनन्य प्रेम से ओत प्रोत थे ही, तत्व ज्ञान में भी उनकी प्रतिष्ठा पूर्ण थी। उनके लिए तो एक संकेत ही पर्याप्त था। किन्तु हम साधारण संसारियों के लिए उन्हें भगवान की वाणी को प्रकट कराना था, अतः उन्होंने अपने आप को भी एक सामान्य विषयासक्त प्राणी बताते हुए भगवान से प्रार्थना की।

उद्धव जी ने कहा - भगवन्, आपने मेरे कल्याण के लिए संन्यास रूप त्याग का उपदेश किया, परन्तु जो लोग विषयों के चिन्तन और सेवन में ही घुले-मिले रहते हैं, उनके लिए विषय भोगों और कामनाओं का त्याग अत्यंत कठिन है और असम्भव सा ही है। प्रभु, मैं भी ऐसा ही हूं। 'यह मैं हूं, यह मेरा है'- इस भाव से मैं स्त्री-पुत्र, संबंधी, धन आदि में डूब

रहा हूं । भगवन्, आपने जो उपदेश दिया, उस परम तत्व को इस प्रकार समझाइये कि हम सुगमता पूर्वक उनका पालन कर सकें। (११.७.१५-१६)

ऐसा उद्धव जी ने केवल आरंभ में ही नहीं कहा है । वे बार बार ऐसी ही विनती करते हैं । उद्धव गीता के अंतिम अध्याय में भी हम यही देखेंगे । भगवान ने अट्ठाईसवें अध्याय में योग साधना का वर्णन करने के बाद कहा - जो साधक मेरे द्वारा कही हुई योग साधना में संलग्न रहता है, उसे कोई भी विघ्न बाधा डिगा नहीं सकती । उसकी सभी कामनाएं नष्ट हो जाती हैं और वह आत्मानन्द की अनुभूति में मग्न हो जाता है । (११.२८.४४)

तब भी उद्धव जी यही कहते हैं - हे अच्युत, जो अपना मन वश में नहीं कर सका है, उसके लिए तो आपकी बताई इस योग साधना को तो मैं बहुत कठिन समझता हूं । अधिकांश योगी मन को एकाग्र करने की चेष्टा बार बार करते हुए भी सफल नहीं होने के कारण हार मान लेते हैं और दुखी हो जाते हैं, अतः आप कोई ऐसा सरल और सुगम साधन

बताइये जिससे मनुष्य अनायास ही परम पद प्राप्त कर सकें। (११.२९.१-२)

यह उद्धव गीता का अंतिम अध्याय है। इस प्रकार आदि से अंत तक उद्धव जी का आग्रह यही है कि जो साधारण संसारी है, धन-जन में आसक्त है, उसके उद्धार की विधि भगवान विशेष रूप से प्रकट करें।

स्पष्ट है कि उद्धव गीता का मुख्य संदेश हम जैसे लोगों के लिए ही है जिन्हें संसार की असारता का कुछ कुछ बोध तो होता है, भगवान के प्रति अनुराग भी है पर संसार से वैराग्य नहीं हो पा रहा। इसके बिना जीवन में द्वंद और क्लेश की निवृत्ति होती नहीं और चित्त को परम विश्राम नहीं मिलता।

हम उद्धव गीता में भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा बताई गई अनेक बातों में से ऐसी ही कुछ बातों पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे।

***

श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

अवधूत कथा

भगवान ने बताया कि उन्होंने ही सभी प्रकार के जीव जन्तुओं का निर्माण किया है, किंतु उन्हें सबसे प्रिय मनुष्य का शरीर है क्योंकि इसी मनुष्य शरीर में ही तीक्ष्ण बुद्धि है जिसमें विवेक विचार की प्रचण्ड शक्ति है। इस विचार शक्ति का उचित प्रयोग कर मनुष्य हर वस्तु, व्यक्ति, प्राणी या घटना

से सीख ग्रहण कर सकता है और अपना परम कल्याण कर सकता है।

भगवान ने एक कथा के माध्यम से इसका महत्व बताया । एक बार परम धर्मात्मा राजा यदु ने एक तरुण अवधूत ब्राम्हण दत्तात्रेय जी को देखा । उनके तेज से यदु बहुत प्रभावित हुए । स्पष्ट था कि उनके पास कुछ भी नहीं है और उन्हें किसी चीज का अभाव भी नहीं लगता । उनकी मस्ती देख कर ऐसा लगता था कि वे सब ओर से निरपेक्ष आत्मानन्द में स्थित हैं । राजा यदु ने उनसे पूछा - भगवन्, संसार के अधिकांश लोग काम और लोभ के दावानल में जल रहे हैं और आपको देख कर लगता है कि उसकी आंच भी आप तक नहीं पहुंच पाती है । जैसे वन में चारों ओर आग लगी हो और कोई हाथी उनसे छूटकर गंगा जी में खड़ा हो । आपको ऐसे अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव कैसे होता है? आप कृपा करके अवश्य बताइये ।

अवधूत दत्तात्रेय जी ने कहा - राजन्, मैंने अपनी बुद्धि के द्वारा चौबीस गुरुओं के आचरण से शिक्षा ली है । उनके प्रभाव से ही मैं सभी प्रकार के ताप संताप से मुक्त हूं । उन्होंने

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि आदि चौबीस नाम और उनसे प्राप्त शिक्षा के बारे बताया । हम उनमें से तीन प्रसंग देखेंगे । संदेश यही है कि जो सीखना चाहता है उसे प्रकृति का एक एक कण सिखाता है । भगवान कहते हैं कि मैं अन्तर्यामी के रूप से मनुष्यों के अन्दर भी बैठा हूं और प्रकृति के रूप में बाहर भी । मैं बाहर से सिखाता हूं और भीतर से सीखने की शक्ति देता हूं । कुछ प्रत्यक्ष से सीख लो, कुछ अनुमान से और कुछ गुरु जनों के अनुभव से सीख लो ।

दत्तात्रेय जी ने कहा - राजन्, एक कबूतर के जोड़े से मैंने सीखा कि किसी के साथ अत्यंत स्नेह या आसक्ति नहीं करनी चाहिए । इससे बुद्धि में कोई विचार शक्ति नहीं रह जाती और मनुष्य की दशा बड़ी दीन हो जाती है, उसे अत्यंत क्लेश उठाना पड़ता है ।

एक जंगल में एक पेड़ के ऊपर घोंसला बना कर एक कबूतर-कबूतरी रहते थे । वे एक दूसरे के साथ बड़ा स्नेह करते थे और बड़े आसक्त थे । दोनों जी जान लगा कर एक दूसरे की इच्छा पूरी करने और प्रसन्न रखने का प्रयास करते थे । फिर उनके बच्चे हुए तो उनकी आंखें बस बच्चों पर ही

लगी रहती थी । उनका लालन पालन करते और उनकी गुटर-गूं सुन कर प्रसन्न होते रहते । जब वे फुदक-फुदक कर उनके पास आते और अपने सुकुमार पंखों से उनका स्पर्श करते और भोली भाली चेष्टाएं करते तो उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता था । अपने बच्चों के पालन पोषण में वे इतने व्यस्त रहते थे कि दीन दुनिया की कोई खबर ही नहीं थी ।

एक दिन कबूतर-कबूतरी तो चुग्गा लाने के लिए गए हुए थे, पीछे से एक बहेलिए ने जाल डाला तो उनके बच्चे फंस गए । जब वे लौटे तो देखा कि बच्चे जाल में फंस हुए दुख से चें चें कर रहे हैं । कबूतरी ने यह देखा तो उसे अपने शरीर की सुध बुध नहीं रही । वह उनकी ओर दौड़ी तो स्वयं भी जाल में फंस गई ।

इसके बाद कबूतर की दशा का बहुत विस्तार से वर्णन है- राजन्, जब कबूतर ने देखा कि मेरे प्राणों से प्यारे बच्चे और मेरी प्राण प्रिया पत्नी भी जाल में फड़फड़ा रही है तो वह दुखी होकर विलाप करने लगा - हाय हाय! मेरा तो सत्यानाश हो गया। मैं बड़ा अभागा हूं । अभी तो मुझे तृप्ति ही

नहीं हुई थी । मेरी आशाएं ही पूरी नहीं हुई थी कि मेरी गृहस्थी ही नष्ट हो गई । हाय! मेरी प्राणप्रिया मुझे ही अपना इष्ट मानती थी । मेरी एक एक बात मानती थी, मेरे इशारों पर नाचती थी, आज मुझे छोड़कर अपने बच्चों के साथ स्वर्ग सिधार रही है । मेरे बच्चे मर रहे हैं, पत्नी जा रही है, मेरा अब संसार में क्या काम है? विधुर का जीवन तो जलन और व्यथा का जीवन है । अब इस सूने घर में किसके लिए जीयूं?

राजन्, स्पष्ट दीख रहा था कि बच्चे और पत्नी मौत के पंजे में हैं, लेकिन वह मूर्ख कबूतर इतना दीन हो रहा था कि स्वयं भी उस जाल में कूद पड़ा । वह बहेलिया बड़ा प्रसन्न हुआ और सबको लेकर चलता बना ।

हे राजन्, जिसे विषयों और भोगों के संग-साथ में ही सुख मिलता है, और कुटुम्ब के भरण-पोषण में ही जो सारी सुध-बुध खो बैठा है, उसे शांति नहीं मिल सकती । वह उसी कबूतर के समान अपने कुटुम्ब के साथ दुख पाता है।(११.७.७३)

राजन्, मनुष्य का यह शरीर मुक्ति का खुला द्वार है । इसमें अपार क्षमता और संभावनाएं हैं । इसे पाकर भी जो

कबूतर की भांति अपनी घर-गृहस्थी में ही फंसा हुआ है, वह बहुत ऊंचे तक चढ कर गिरा हुआ है, बड़ा ही अभागा है।

दत्तात्रेय जी ने तो कथा में कबूतर-कबूतरी का नाम लिया है, पर बहुत स्पष्ट है कि यह हम संसारियों की ही कथा है। कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो केवल अपने से प्रेम करते हैं। ये स्वार्थी और अहंकारी पुरुष तो अपनी पत्नी-बच्चों को भी कुछ नहीं समझते। हम भी ऐसी मानसिकता को तो निन्दनीय ही मानते हैं, पर जो अपने परिवार के प्रति अधिक से अधिक प्रेम रखते हैं, बच्चों की खुशी में ही अपनी खुशी समझते हैं, उनका तो हम महिमामंडन ही करते हैं।

लेकिन उद्धव गीता हमें प्रेम और आसक्ति का अंतर बताती है - प्रेम का प्रवाह सबके लिए समान होता है, लेकिन आसक्ति केवल उसके लिए होती है जिसको हम 'मेरा' मानते हैं। प्रेम की अभिव्यक्ति - सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय; लेकिन आसक्ति – निजजन सुखाय, निजजन हिताय। भगवान ने अनेक गुणों में एक बड़ा गुण मनुष्य को दिया है - वह है प्रेम करने की वृत्ति। अपने बच्चों का पालन पोषण तो सभी पशु पक्षी भी करते हैं, सृष्टि में एकमात्र मनुष्य ही है जो

उसके कल्याण के लिए भी कुछ कर सकता है जिससे उसका कोई रिश्ता नहीं। भगवान के दिये इसी गुण का विकृत रूप है आसक्ति । सबके लिए सहज प्रेम तो अत्यंत आनन्द की प्राप्ति कराता है, लेकिन 'मैं-मेरे'के लिए ही जीवन जीने वाले की गति अन्ततः अच्छी नहीं होती क्योंकि यह आसक्ति उसकी बुद्धि का हरण कर उससे बहुत से ऐसे कार्य करा देती है जो उसे नहीं करने चाहिए। इस बात को अच्छी तरह से जानने के लिए हमें वन में जाकर तपस्या करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे चारों ओर ऐसी दुर्दशा को प्राप्त मनुष्य भरे पड़े हैं, बस कुछ विचार के साथ आत्म निरीक्षण की आवश्यकता है।

अगली कथा पिंगला वेश्या की है। अवधूत दत्तात्रेय जी ने कहा - राजन्, सावधान हो कर सुनो। अब मैं तुम्हें वह शिक्षा बता रहा हूं जो मैंने मिथिला की एक वेश्या पिंगला से ग्रहण की थी।

वह अत्यंत सुंदरी थी । एक दिन रात्रि के समय खूब बनठन कर वह किसी कामुक पुरुष को लुभाने के लिए अपने द्वार पर खड़ी हुई। उसे कामना किसी पुरुष की नहीं, बस धन

की ही थी। इस कामना ने उसे इतना व्याकुल बना दिया था कि उस ओर आते हुए हर व्यक्ति को देख कर वह यही सोचती थी कि यह कोई धनवान पुरुष है जो मुझे बहुत सा धन देकर जाएगा। वह व्यक्ति आगे बढ़ जाता था तो वह फिर आशा करने लगती कि कोई ऐसा धनी आएगा जो मुझे बहुत सा धन देगा।

वह बहुत देर तक इसी प्रकार दरवाजे पर टंगी रही। उसकी आशा दुराशा में बदल गई। उसकी नींद भी जाती रही। वह कभी बाहर आती, कभी भीतर जाती। इस प्रकार आधी रात बीत गई। राजन्, सचमुच आशा और वह भी धन की - बहुत बुरी है। धन की बाट जोहते जोहते उसका मुंह सूख गया, चित्त बड़ा व्याकुल हो गया।

अब उसमें वैराग्य जाग गया। इस वैराग्य का कारण चिंता ही थी, पर कारण कुछ भी हो, वैराग्य की जागृति ही सुख का मूल है। उसके मन में आया - देखो, मैं कितनी मूर्ख हूं। मैं धन और विषय सुख की लालसा से मरे जा रही हूं। देखो तो सही, मेरे निकट से निकट, मेरे हृदय में ही मेरे सच्चे स्वामी भगवान विराजमान हैं। ये ही वास्तविक प्रेम, सच्चा

सुख और परमार्थ का सच्चा धन देने वाले हैं । हाय, मैंने इनको तो छोड़ दिया और उन तुच्छ पुरुषों का सेवन किया जो मुझे दुःख-भय, आधि-व्याधि तथा शोक और मोह ही देते हैं । बड़े खेद की बात है कि मैंने निन्दनीय आजीविका का सहारा लिया । मेरा यह शरीर बिक गया है और क्लेश ही हाथ लगा है । लोभी लम्पट पुरुषों के हाथों बिकते हुए मैं सुख की चाह करती रही । धिक्कार है मुझे !

फिर वह अपने ही मन से वार्तालाप करने लगी - मेरे मूर्ख चित्त, तू बतला तो सही कि विषय भोगों ने और उन्हें उपलब्ध कराने वाले पुरुषों ने आज तक तुझे कितना सुख दिया है? अवश्य ही **आज भगवान की बड़ी कृपा हुई है, तभी तो इस दुराशा से मेरे मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ है ।** अवश्य ही यह वैराग्य मुझे सुख देने वाला होगा । सचमुच भगवान की कृपा से ही दुख में वैराग्य जागता है । वैराग्य द्वारा ही मनुष्य घर के बन्धनों को काट कर शांति पा सकता है । अब मैं भगवान के उपकार को सिर झुका कर स्वीकार करती हूं, और भोगों की दुराशा छोड़ कर उनकी शरण ग्रहण करती हूं ।

अवधूत दत्तात्रेय जी ने कहा - राजन्, पिंगला ने अपनी लालसा और दुराशा का त्यागकर दिया, तभी वह सुख से सो सकी। इस प्रकार देखा जाए तो आशा ही दुख का कारण है और निराशा भी सुख का कारण बन जाती है, यदि मनुष्य परिस्थितियों से सीख लेना सीख जाए।

दत्तात्रेय जी तो अवधूत थे। उन्हें तो इस प्रकार के दृश्य एक-आध बार ही देखने को मिले होंगे, पर जो कुछ भी देखा उस पर विचार कर अपने सार की बात ग्रहण की और अपना कल्याण कर लिया। संत महात्मा बताते हैं कि इसे ही गुरु तत्व की जागृति कहते हैं। सत्संग करते करते यह जागृति होनी ही चाहिए। इसके बाद तो हमारे लिए संसार की प्रत्येक घटना और प्रत्येक प्राणी गुरु हो सकते हैं, पर इसके बिना हमारे दीक्षा गुरु हमें लाख प्रवचन सुना दे, हम कोरे के कोरे ही रहेंगे।

दत्तात्रेय जी का कबूतर कबूतर नहीं है, न ही पिंगला एक वेश्या है। ये दो ऐसी मानसिकता हैं जिन्हें हम नित्य प्रति अपने चारों ओर तथा कमोबेश अपने अन्दर भी पाते हैं। कबूतर कुटुम्ब की आसक्ति का प्रतीक है और पिंगला धन

की आसक्ति का। धन का लोभी ठीक से सो नहीं पाता, न जाने कितने रोगों का शिकार हो जाता है । यह लोभ निन्दनीय कर्म भी करवा देता है और जेल नहीं तो अस्पताल जरूर ही पहुंचा देता है। क्या हम इन दोनों के जैसी कहानी नित्य प्रति अपने चारों ओर, और स्वयं के साथ भी घटते नहीं देखते? यदि हम साधक हैं तो हमारी स्थिति बिलकुल इस कथा के कबूतर या पिंगला जैसी तो नहीं होगी, पर विचार करेंगे तो समझ में आ जाएगा कि जितनी मात्रा भी क्लेश हमारे जीवन में है, उसमें इन वृत्तियों का कितना हाथ है।

पर हम विचार करते ही नहीं, करना ही नहीं चाहते हैं। जो स्वयं को भगवान का भक्त समझते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, वे भी कुटुम्ब, धन और भोग में ही तो कृपा का दर्शन करते हैं। भगवान की कृपा से हमारे घर में संतान होती है, भगवान की कृपा से हमारा व्यवसाय अच्छा चलता है, भगवान की कृपा से हमारे छोटे से घर के स्थान पर आलीशान इमारत खड़ी हो जाती है....कितना कहें?

भगवान की कृपा न तो संसार के सुखों की आशा पूरी होने में है, न ही पूरी नहीं होने में । अपने जीवन का अवलोकन करें तो ये दोनों खेल तो दिन में कई-कई बार हम देख सकते हैं। इससे क्या बदला? **उनकी वास्तविक कृपा तो आशा न पूरी होने पर जगत् के प्रति वैराग्य और भगवान के प्रति अनुराग की जागृति में है ।** पिंगला की कथा पर चिंतन करते हुए हमें इस बात को गांठ में बांध लेना चाहिए।

चलिये आगे बढते हैं।

दत्तात्रेय जी कहते हैं - राजन्, अब मैंने अपने शरीर से जो सीखा है उसे ध्यान पूर्वक सुनो। शरीर भी मेरा गुरु है क्योंकि यह भी मुझे विवेक और वैराग्य की शिक्षा देता है।

मरना जीना तो इसके साथ लगा ही रहता है। जिस शरीर के सुख के लिए मनुष्य स्त्री- पुत्र, धन-दौलत, नौकर-चाकर, घर-द्वार, और भाई-बन्धुओं का विस्तार करते हुए उनके पालन पोषण में लगा रहता है, बड़ी कठिनाइयां सह कर धन संचय करता है, वह शरीर जीते जी भी सुख नहीं देता और मरने के बाद भी दूसरों को दुखी कर जाता है। हमारी सारी

इन्द्रियां हमें अपने अपने भोगों की ओर इस प्रकार खींचती रहती हैं जैसे बहुत सी सौतें अपने एक पति को अपनी-अपनी ओर खींचती हैं। हमें किसी भी अवस्था में चैन नहीं मिल पाता।

राजन्, भगवान ने वृक्ष, पशु ,पक्षी, मछली आदि अनेक योनियां बनाई, परन्तु उन्हें संतोष नहीं हुआ। तब उन्होंने मनुष्य शरीर की रचना की और बड़े आनन्दित हुए। यह मनुष्य शरीर है तो अनित्य ही, पर भगवान ने विशेष रूप से विवेक शक्ति दी है जिसके द्वारा यह निर्णय ले सकता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं। यह अति दुर्लभ है और अनेक जन्मों के बाद, अनेक योनियों में भटकने के बाद मिलता है। अवश्य ही भगवान ने किसी विशेष प्रयोजन के लिए यह दुर्लभ देह दी है। इसे पाकर विचार करना चाहिए कि हम क्या कर रहे हैं जो अन्य योनियों में नहीं किया।

खाना-पीना, भोग करना, घर बनाना, बच्चे पैदा करना, उनका पालन पोषण करना - यह सब तो पशु पक्षी भी करते हैं, फिर इनमें ही हम अपना अमूल्य जीवन क्यों खोएं?

इस जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है, इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि शीघ्र से शीघ्र, मृत्यु के पहले ही मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न कर ले। राजन्, यही सब सोच कर मैं किसी से आसक्ति नहीं करता, इसलिए मैं प्रसन्न मन से इस पृथ्वी पर विचरण करता हूं।

लेकिन राजन्, गुरु कितना भी समझा दे, उससे वह ज्ञान जीवन में नहीं उतर जाता, उसके लिए अपनी बुद्धि से भी बहुत कुछ सोचने समझने की आवश्यकता है। बिना स्वयं के चिंतन मनन के निष्ठा दृढ नहीं होती और बिना निष्ठा के कोरा ज्ञान किसी काम का नहीं होता।

इस अध्याय का मुख्य संदेश दत्तात्रेय जी के इस अंतिम वाक्य में ही है। यह हमें अपनी अन्तर्दृष्टि को जागृत करने और अपने जीवन तथा अपने चारों ओर घटती घटनाओं को लेकर चिंतन मनन करने की आवश्यकता बताता है। भगवान ने तो आरंभ में ही कहा कि मैं मनुष्य के अंतःकरण में विद्यमान हूं। यदि हम केवल सत्संग करते रहें, तीर्थ यात्रा करते रहें, कथा सुनते रहें, पर कभी भी सुने या पढे हुए पर

शांत चित्त से चिंतन न करें और पिंगला की भांति अपने मन से कभी बातचीत ही न करें तो यह अन्तर्यामी प्रभु के द्वारा दी गई शक्ति का अपमान नहीं है क्या? हमने किसी को बड़े चाव से, बहुत विचार कर एक बड़ी उपयोगी वस्तु उपहार में दी, किंतु उसने उपयोग नहीं किया और कहीं कूड़े करकट के बीच रख दी तो हमारा मन कितना दुखेगा?

शास्त्रों में साधना के तीन चरण बताए गए हैं - श्रवण, मनन और निदिध्यासन, अर्थात् सुनना, फिर सुने हुए पर स्वयं मनन करना और फिर उसे जीवन में उतारना। जिसने कभी सत्संग किया ही नहीं, उसका जीवन यदि आसक्ति और भोगों की वासना से लिपटा पड़ा हो तो माना जा सकता है, लेकिन भगवान की सर्वोपरि कृपा के रूप में सत्संग मिला, फिर भी चिंतन के द्वारा अपने विवेक को नहीं जगाया और साधारण कामी, लोभी की भांति कुटुम्ब की आसक्ति में ही पड़े रहे तो यह ईश्वर के प्रति अपराध ही है। संत कहते हैं कि कथा सुनते माला जपते तो वर्षों गुजर गए, क्या कभी ऐसा दिन आया कि आपने अपने मन को कहा - चल आज तुझे

कथा सुनाता हूं । जो आपने गुरु से सुना वह मन को भी सुनाइये ।

सभी संतों की वाणियों में यह संदेश मिलता है -

अरे मन समझ समझ पग धरिये....

रे मन एक बात सुन मेरी ......

एक बात और विचारणीय है । प्रायः मोक्ष को हम मृत्यु के बाद की ही कोई अवस्था समझते हैं । जैसे एक मान्यता है कि अपने पितरों के नाम से भागवत कथा कराने से उनको मोक्ष मिल जाता है । पर यहां अवधूत दत्तात्रेय जी तो मरे नहीं थे, वे तो जीते जी ही मुक्त थे । इसे कहते हैं जीवन्मुक्ति । जीवन **से** मुक्ति नहीं, जीवन **में** मुक्ति । इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण को 'अनासक्त' शब्द बहुत प्रिय है । वे कहीं नहीं कहते कि घर परिवार या धन दुख का कारण है । स्वयं उनका जीवन भी ऐश्वर्य पूर्ण था और परिवार - सोलह हजार रानियां, और सबके दस दस पुत्र और एक एक पुत्री । सबके प्रति उनका प्रेम सहज था क्योंकि वे प्रेम की ही मूर्ति थे । सबको वे सम्पूर्ण प्रेम देते थे, और किसी को भी उनके प्रेम में कोई कमी नहीं नजर आती थी, लेकिन अनासक्ति की पराकाष्ठा भगवान

ने स्वयं दिखाई है कि जब देखा कि मेरे कुटुम्बी ऐश्वर्य के मद में उच्छृंखल हो रहे हैं तो उनके विनाश की योजना बनाने में कोई मोह-ममता आड़े नहीं आई। वे तो मायापति हैं। माया उन्हें लुभा तो नहीं सकती थी, किंतु अपनी लीला की पटकथा तो उन्हें स्वयं लिखनी थी, वे कोई हल्की-फुल्की सी कहानी रच सकते थे, लेकिन भगवान की प्रत्येक लीला मानव को एक संदेश देने के लिए होती है।

यह सही है कि हम इसी क्षण इस पूर्ण अनासक्ति की इस अवस्था को नहीं पा सकते, पर हम इस अवस्था को पाने की इच्छा तो इसी क्षण कर सकते हैं। इच्छा होगी तो प्रयास भी होगा और प्रयास आरम्भ करेंगे तो भगवान का अनुग्रह भी होगा।

***

श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

बद्ध, मुक्त और भक्त

ग्यारहवें अध्याय में भगवान ने उद्धव जी को बद्ध, मुक्त और भक्त के लक्षण बताए हैं। इसमें भी स्पष्ट है कि मुक्ति का तात्पर्य भगवान के लिए जीवन समाप्त होने के बाद की मुक्ति नहीं, जीवन में रहते हुए ही मुक्ति से है । इसमें एक और विलक्षण बात यह है कि भगवान ने भक्त को एक अलग श्रेणी में रखा है। हम इन तीनों के विषय में कुछ सारभूत बात देखेंगे।

बद्ध - बद्ध व्यक्ति अपने को कर्मों का कर्ता और कर्मफलों का भोक्ता मानता है। कर्म फलों के रूप में जो सुख दुख उसे मिलते रहते हैं उनसे वह सुखी दुखी होता रहता है। सच तो यह है कि वह सुख भी चैन से नहीं भोग पाता। चूंकि सुख के बाद दुख और दुख के बाद सुख का सिलसिला चलता ही रहहता है, अतः दुख में तो दुखी होना स्वाभाविक है ही, सुख में भी वह बेचैन ही रहता है कि सुख चला न जाए, दुख आ न जाए। इस बंधन का मुख्य कारण अपने को कर्ता मानना है।

मुक्त- मुक्त पुरुष सुख दुख से असंग रहता है। वह उनके आने जाने को साक्षी भाव से देखता रहता है, अतः बेचैन नहीं रहता। जैसे हमें बदलते मौसम के कारण बुखार इत्यादि हो जाए तो हम उपचार तो करते हैं, लेकिन बेचैन नहीं होते क्योंकि जानते हैं कि चंद दिनों की ही बात है। वाइरल बुखार है, तीन दिन तो तकलीफ देगा ही, इसके बाद तकलीफ कम होती जाएगी। भगवद्गीता में भी भगवान ने संदेश दिया- आगमापायिनो अनित्यः तान् तितिक्षस्व भारत - हे भारत, हे अर्जुन, ये सब अवस्था आने जाने वाली हैं, अनित्य हैं, ऐसा जान कर इन्हें धैर्य पूर्वक सहन करो - दुख को ही नहीं, सुख को भी। इस बात को भी विस्तार से बताया गया है कि विवेकी पुरुष सोने, बैठने, घूमने-फिरने, देखने, छूने, खाने और सुनने आदि की क्रियाओं में अपने को कर्ता नहीं मानता, बल्कि यह मानता है कि यह तो प्रकृति के तीन गुणों का गुणों के साथ परस्पर व्यवहार हो रहा है। इसी कारण वह कर्म वासना या कर्म फल से भी नहीं बंधता। यहां गुणों का अर्थ सत्व गुण, रजो गुण और तमो गुण है जिनके मेल से यह समस्त जगत्, प्रकृति, हमारा स्थूल शरीर (देह), और हमारा

सूक्ष्म शरीर (मन, बुद्धि आदि) भी बना है। जिनके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की समस्त चेष्टाएं बिना संकल्प के होती हैं, वे देह में स्थित रह कर भी उसके गुणों से मुक्त हैं।

भगवान कहते हैं कि जीव तो मेरा ही अंश है, मेरा ही स्वरूप है। आत्म ज्ञान से सम्पन्न होने पर उसे मुक्त कहते हैं और आत्मा का ज्ञान न होने पर बद्ध।

यहां भगवान बताते हैं कि मुक्त पुरुषों के शरीर को कोई पीड़ा पहुंचाए, या पूजा करे, वे न तो किसी के सताने से दुखी होते हैं, न पूजा करने से सुखी। वे न अच्छे काम करने वालों की स्तुति करते हैं, न बुरा करने वालों की निन्दा। न तो वे कुछ भला बुरा करते हैं, न कुछ भला बुरा कहते हैं, न ही भला बुरा सोचते हैं। वे तो व्यवहार में समान वृत्ति रख कर आनन्द में मगन रहते हैं।

इस विवरण से यह तो स्पष्ट है कि भगवान जिस मुक्त पुरुष की चर्चा कर रहे हैं, वह इस संसार में ही रहते हुए, जीते जी ही मुक्त है, पर इस अवस्था की प्राप्ति की हम जैसे लोग तो कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।

देखें भगवान भक्त के विषय में क्या कहते हैं-

भक्त - भगवान कहते हैं कि उद्धव, यदि तुम इस प्रकार मन को स्थिर न कर सको, तो भी तुम्हारे कल्याण का एक उपाय है – तुम मेरे आश्रित हो कर मेरे ही लिए धर्म, काम और अर्थ का सेवन करो । जो ऐसा करता है, उसे मुझ अविनाशी पुरुष के प्रति अनन्य प्रेम की प्राप्ति हो जाती है । (११.११.२४)

भगवान के आश्रित हो कर, भगवान के लिए कर्म करना - इसे ही कहते हैं भागवत धर्म । भगवान के लिए कर्म करने का अर्थ है वैसे कर्म करना जिससे भगवान प्रसन्न होंगे । इसे समझना बहुत मुश्किल नहीं है । जब हम अपने बच्चे को हंसते खिलखिलाते देखते हैं तो प्रसन्न होते हैं । जरा जरा सी बात पर अकड़ने, गुर्राने वाला बच्चा स्वयं जितना दुखी होता है, उससे ज्यादा दुखी उसके नकारात्मक व्यवहार को देख कर उसके माता-पिता हो जाते हैं । हम अपने बच्चे को बड़ों का आदर करते देखते हैं तो प्रसन्न होते हैं, यदि हमारा छोटा सा बच्चा अपनी सामर्थ्य न होने पर भी किसी की मदद करने का प्रयास करता है, यदि हमारा नन्हा सा बालक घर आई दादी या नानी का बड़ा सा सूटकेस उठा कर उनकी सेवा

करने की कोशिश करता है तो कैसा लगता है हमें? हमारा हृदय अनायास ही उसे आशीर्वाद देने लगता है। बस हमारी भी ऐसी ही छोटी छोटी बातें भी उस परम पिता को अत्यधिक प्रसन्न कर सकती हैं बशर्ते कि भाव अपने स्वार्थ या अपनी मान बड़ाई का न हो। यहां 'सामर्थ्य हो और सेवा की' से अधिक मोल हो जाता है - 'सामर्थ्य न हो, पर सेवा का प्रयास हो'।

सबसे साफ बात तो उनकी यह है-

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

यहां तो क्रिया कोई है ही नहीं। किसी वस्तु की भी मांग नहीं, अतः इस बात की कोई गुंजाइश ही नहीं है कि चाहते तो बहुत कुछ हैं पर कर नहीं पाते। दूसरों के साथ छल कपट करना इसलिए छोड़ दिया क्योंकि प्रभु ने कहा है कि उनको बिलकुल पसंद नहीं है। यह हुआ भगवान के लिए कर्म करना।

दूसरी महत्वपूर्ण बात भगवान ने यह कही है कि मेरे आश्रित हो कर सब कुछ करो । यह कह कर भगवान ने अपनी करुणा का द्वार खोल दिया है, यह स्पष्ट कर दिया है कि उनकी कृपा की वर्षा तो सर्वसाधन शून्य पर ही सबसे अधिक होती है।

धन-बल नहीं, जन-बल नहीं, शारीरिक बल नहीं, और आत्म-बल भी नहीं, सेवा नहीं, बस सेवा की चाह, सेवा का निष्फल सा प्रयास और केवल उनकी कृपा का भरोसा- भागवत धर्म से सरल भला और कौन सा मार्ग है? इसीलिए तो गोस्वामी तुलसीदास ने कहा- ऐसो को उदार जग माहीं।

इसका अर्थ यह भी नहीं कि जो साधन समर्थ हैं उन पर भगवान विशेष कृपा नहीं करते। यहां मुख्य भाव यह है कि अपने साधन का अभिमान तो क्या भान भी न हो - जो कुछ हुआ वह उनकी कृपा से हो गया। 'मैंने सेवा की' के बदले मन इस बात से प्रसन्न हो कि उन्होंने सेवा ले ली। भागवत धर्म के परिचय में ही यह बात स्पष्ट की गई है कि इसमें किसी कर्म विशेष का महत्व नहीं है, भाव का ही महत्व है।

मुक्त पुरुष और भक्त में सबसे बड़ा अंतर यही है कि भक्त को भगवान का भरोसा बल देता है । संसार के आते जाते सुख दुख के बीच 'चिदानन्द रूपः शिवोहम् शिवोहम्' की घोषणा करने वाले शंकराचार्य जी जैसा बनने के लिए बहुत बड़ा आत्म बल चाहिए, बहुत तपस्या चाहिए, बहुत विवेक-वैराग्य चाहिए । ऐसा मुक्त पुरुष घोषणा करता है कि सारा संसार आत्म स्वरूप है, अर्थात् वह अपने आप को सबमें देखता है ।

भक्त तो अपने आपको निर्बल ही स्वीकार करता है । वह अपने आपको सबमें देखने जैसा आत्म बल नहीं रखता, लेकिन वह भगवान के बल पर बड़ा भरोसा रखता है और यह स्वीकार कर लेता है कि संसार के सभी प्राणियों में वे ही क्रीड़ा कर रहे है, सभी उनके ही रूप हैं । मेरे हृदय में भी वे ही प्रभु अन्तर्यामी रूप से विराजमान हैं । इस प्रकार मुक्त पुरुष की भांति वह भी अन्ततः सबमें एक को ही देखता है और समस्त राग द्वेष से मुक्त हो जाता है । लेकिन यहां मानसिकता में इतनी भिन्नता है कि भगवान ने भक्त को एक अलग श्रेणी में रखा । फिर उन्हें उद्धव जी को भी तो संतुष्ट करना था जो

बार बार यह आग्रह कर रहे थे कि भगवन्, ऐसा मार्ग बताइये जो एक साधारण संसारी के लिए भी सुलभ हो।

भक्त के लक्षण बताते हुए भगवान कहते हैं कि उद्धव, मेरा भक्त कृपा की मूर्ति होता है। वह किसी भी प्राणी से वैर भाव नहीं रखता और घोर से घोर दुख भी प्रसन्नता पूर्वक सहन कर लेता है । उसके मन में पापवासना नहीं आती, उसकी बुद्धि कामनाओं से कलुषित नहीं होती, वह सबका भला करने वाला होता है, वह मधुर स्वभाव का होता है, संग्रह परिग्रह से दूर रहता है, परिमित भोजन करने वाला होता है और शांत रहता है। वह स्वयं सम्मान नहीं चाहता पर दूसरों का सम्मान करता है। उसे **केवल** मेरा ही भरोसा होता है।

यहां भगवान ने जो बातें बताई हैं, ये भक्ति की शर्तें नहीं हैं, भक्ति का फल है। भगवान का तात्पर्य यह नहीं है कि जो पुरुष ऐसे लक्षण वाला होगा उसे मैं अपने भक्त के रूप में स्वीकार करूंगा। वे तो यह कह रहे हैं कि जो मेरा आश्रय लेकर मेरे लिए कर्म करने का प्रयास करता है उसमें ये लक्षण आने लगते हैं। उदाहरण के लिए अन्तिम वाक्य देखें - उसे

केवल मेरा ही भरोसा होता है। हम उन पर भरोसा कर उनका आश्रय लें तो सही, फिर वे लीला ऐसी करेंगे कि सबसे भरोसा हट कर **केवल** उनका भरोसा रह जाएगा। हमारा प्रयास आधा अधूरा हो सकता है, पर वे तो पूर्ण पुरुष हैं, उनकी स्वीकृति पूरी ही होती है।

लक्षणों की यह विवेचना एक प्रकार से बहुत काम की है। कभी कभी हमें लगने लगता है कि मैं तो बड़ा भक्त हूं और अभिमान सर उठाने लगता है, कभी कभी लगने लगता है कि मैं तो बड़ा गया गुजरा हूं, कभी लगता है कि इतने दिन हो गए, इतना सत्संग कर लिया लेकिन कुछ हुआ ही नहीं। इसीलिए भगवान ने यह कसौटी बता दी, न अभिमान होगा न निराशा। हम स्वयं भगवान की वाणी के आधार पर अपने आप की जांच-परख कर सकते हैं - क्या हमारी कामनाएं कम हुई? क्या हमारा दूसरों के प्रति वैर भाव कम हुआ? क्या हमारे मन में सबके भले की भावना होने लगी है? क्या सम्मान चाहने के बदले अब हम सम्मान देना सीख रहे हैं? यदि हां, तो यह भगवान की बहुत बड़ी कृपा है। अभी तक

धन वैभव की प्राप्ति को कृपा मानते आए थे, अब दृष्टि बदल जाएगी।

सद् गृहस्थ के लिए तो घर परिवार की सुख समृद्धि में भगवान की कृपा का दर्शन उचित ही है, करना ही चाहिए, पर यदि भक्त भी हैं तो भगवान के प्रति निश्छल प्रेम की प्राप्ति ही उनकी कृपा है। जब उद्धव जी कहते हैं कि वह मार्ग बताइये जिस पर संसारी भी चल सके तो हमें समझना होगा कि भगवान के द्वारा बताया गया यह मार्ग 'संसारी' को 'भक्त' बनाने का एक पथ है। यह एक नवीन यात्रा है, एक नया मोड़ है जो अब तक के पाप ताप संताप भरे जीवन से भिन्न दिशा में ले जाने वाला है।

हम सबके कई पहचान पत्र होते हैं। आधार कार्ड, वोटर आइ डी कार्ड, पैन कार्ड इत्यादि, सब पर नाम एक ही है, सब का धारक एक ही है, पर अलग अलग काम के लिए ये पहचान पत्र अलग अलग होते हैं। यदि हमें भारतीय नागरिक की पहचान चाहिए तो आधार कार्ड की आवश्यकता है, पर वोट देने के लिए यह काम नहीं आएगा। यदि व्यवसाय आदि करना है तो पैन कार्ड चाहिए। यदि

विदेश यात्रा करनी है तो इन सब से काम नहीं चलेगा, हमें 'पासपोर्ट होल्डर' बनना है। हमारे पुराने कार्ड निरस्त नहीं हो गए, पर यह नई पहचान प्रमुख हो गई। ठीक इसी प्रकार हम जो अब तक दलीलें देते आए थे कि हम तो संसारी हैं, हम तो आपकी माया के मारे हुए हैं, अब भक्ति के पथिक होना चाहते हैं तो अपनी आइडेंटिटी बदलनी होगी। जरा ठहर कर एक क्षण के लिए नेत्र बंद कर अपने मन से पूछें कि वह अमुक की माता, अमुक का पिता, किसी की पत्नी या किसी का पति ही बने रहना चाहता है कि प्रभु का सेवक, उनका दास या उनका भक्त बनना चाहता है। यह बहुत बहुत आवश्यक है। यदि गृहस्थ हैं और वही बने रहना चाहते हैं तो भगवान बहुत प्रसन्न होंगे यदि हम सुख समृद्धि को अपना पुरुषार्थ न घोषित कर भगवान की कृपा मानें, पर यदि भक्त बनना है तो कृपा की परिभाषा बदल जाएगी। यदि उनका नाम जिव्हा पर आया तो उनकी कृपा, यदि किसी संत का संग मिला तो उनकी कृपा, यदि अपने द्वारा कोई सत्कर्म हुआ तो उनकी कृपा, यदि सोते जागते उठते बैठते उनकी याद आई तो उनकी कृपा, यदि कुटुम्ब के प्रति अपनी मोह

ममता कम हुई तो उनकी कृपा....यह तात्पर्य है **केवल** उनके भरोसे का। बस इसी से जीवन के सारे मूल्य बदल जाएंगे, सारे आयाम बदल जाएंगे, जीवन की दिशा और दशा बदल जाएगी। हम नए राजसी वस्त्र भी धारण करें और पुराने चीथड़ों को भी लपेटे रहें - कैसे लगेंगे?

भगवान कहते हैं - उद्धव, वेद और शास्त्रों में अनेक प्रकार से मनुष्यों के धर्म का उपदेश किया गया है परन्तु मेरा जो भक्त उनकी विवेचना में उलझता नहीं और केवल मेरे भजन में लगा रहता है, वह परम संत है।(११.११.३२)

मैं कौन हूं, कितना बड़ा हूं, कैसा हूं, इन बातों को चाहे जाने न जाने, परन्तु जो अनन्य भाव से मेरा भजन करते हैं, वे मेरे प्यारे भक्त हैं।

यह कह कर भगवान ने भागवत धर्म के लिए बुद्धि-बल के महत्व को भी समाप्त कर दिया है।

फिर से याद कर लें कि उद्धव जी ने हम जैसे लोगों का प्रतिनिधि बन कर कहा था - भगवन्, मैं तो आपकी माया के खेल, देह और देह के संबंधों - स्त्री, पुत्र, धन आदि में ही

डूबा हुआ हूं, अतः आप मुझे इस प्रकार समझाइये कि मैं सुगमता पूर्वक साधन कर सकूं।

भगवान ने इतना सुगम साधन बता दिया जहां निर्बलता ही सबसे बड़ा बल है। अपने को असमर्थ मानना और भगवान को सर्व समर्थ जानना, बस ये ही तो मूल हैं उनपर, केवल उनपर, एकमात्र उनपर भरोसा करने के।

***

श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

भक्ति के साधन

भगवान ने जब भक्ति और भक्त के विषय में बताया तो स्वाभाविक रूप से उद्धव जी के नेत्रों में चमक आ गई होगी- हां, अब भगवान मेरे काम की बात कह रहे हैं। उनके हाव भाव देख कर भगवान भी प्रसन्न होकर इन बातों को विस्तार से बताने के लिए उत्सुक हो उठे होंगे। तब उद्धव जी ने प्रश्न किया - भगवन्, आपके प्रति कैसे भक्ति करनी चाहिए, यह मैं विस्तार से समझना चाहता हूं।

भक्ति का प्रथम साधन तो भगवान ने बताया - सत्संग। वे कहते हैं - मेरी लीला कथाएं समस्त लोकों को पवित्र करने

वाली हैं। श्रद्धा के साथ उन्हें बार-बार संतों के मुख से सुनना चाहिए क्योंकि संत ही उन कथाओं के सूक्ष्म रहस्यों को ठीक से बता सकते हैं। विशुद्ध हृदय वाले संतों से ही इनके रहस्य समझने का प्रयत्न करना चाहिए और बार-बार इनका स्मरण और गान करना चाहिए।

भगवान की यह सलाह बहुत महत्वपूर्ण है । वर्तमान समय में तो इसके लिए बहुत ही सावधान रहने की आवश्यकता है। मूल ग्रंथों के स्थान पर पौराणिक उपन्यास अधिक प्रचलित हैं जिसमें कथाकार मनमाने ढंग से तथ्यों को प्रस्तुत करता है। इस लेखन का उद्देश्य होता है रायल्टी कमाना । इसी प्रकार भगवान राम, भगवान कृष्ण, महादेव शिव, पवनपुत्र महावीर हनुमान जी के चरित्रों पर सैंकड़ों सीरियल बने हैं । इनका उद्देश्य भी धन कमाना ही है । लोकरंजन के लिए कुछ का कुछ दिखा दिया जाता है, और वर्तमान पीढ़ी तो समझ भी नहीं पाती कि क्या सत्य है और क्या झूठ। इधर उधर से सुनी हुई लीला कथाएं तो अनेक प्रकार से अर्थ का अनर्थ कर देती हैं और व्यक्ति यह सोचने लगता है कि भगवान कृष्ण गोपियों के साथ रास कर सकते

हैं तो मैं पराई स्त्रियों के साथ क्यों नहीं नाच सकता? इसीलिए यह बहुत ही आवश्यक है कि हम विशुद्ध हृदय वाले संत महात्माओं की ही वाणी सुनें।

वक्ता से भी बड़ी भूमिका श्रोता की होती है, अतः अपने आपको भी परखना आवश्यक है। जब हम कथा सुनें, सत्संग करें, तो हमारे सामने दो कसौटी हो - पहली यह कि क्या इस कथा से भगवान के प्रति प्रेम-भक्ति की वृद्धि हुई? दूसरी यह कि क्या हम इस कथा से यह ग्रहण कर पाए कि प्रेम के पथ में आगे कैसे बढ़ें? हमारे मन के विकार कैसे दूर हों? हमारी उपासना का मार्ग कैसे प्रशस्त हो? इसलिए कथा सुनने के साथ अपने मन को भी देखना परखना उतना ही आवश्यक है, तभी 'सत्' के साथ मन का 'संग' होगा जो हमें प्रभु की ओर ले जाएगा। यदि ऐसा नही होता है तो हमारे द्वारा किया गया सत्संग विडम्बना मात्र है। अवधूत कथा भगवान ने यही समझाने के लिए सबसे पहले सुनाई।

एक बड़ा प्रश्न गृहस्थ साधकों के मन में आता है कि मुझे ऐसे संत कैसे मिलेंगे जिनके संग से मेरा मन निर्मल भक्ति के योग्य बने, जो निरंतर मेरा मार्गदर्शन करें, मेरे संशयों का

निवारण करें। सर्वप्रथम तो ऐसे समर्थ संत होते ही दुर्लभ हैं। जो हैं, उन तक पहुंच ही कठिन है और उनके सान्निध्य में रह कर उनका मार्गदर्शन प्राप्त करते रहना तो असंभव ही है, फिर मेरा उद्धार कैसे संभव है? यहां विचारणीय बात यह है कि संग केवल तन से साथ रहने पर ही नहीं होता। मन के संग का महत्व ही अधिक है। संसार में भी तन से हम जितने लोगों के साथ रहते हैं उससे अधिक संग तो मन से ही उन दोस्त-दुश्मन के साथ होता है जो अभी हमारे नजदीक नहीं हैं। सत्संग में भी जब हम बैठे होते हैं तो बीच बीच में मन इधर उधर चला जाता है और हम सुन भी नहीं पाते कि क्या बताया जा रहा है। अतः संत की खोज में भटकना अनावश्यक है। हम चाहें तो अपने घर में बैठ कर भी संत कबीर, गोस्वामी तुलसीदास जी, भक्तिमति मीरा बाई, सूरदास जी, चैतन्य महाप्रभु आदि सभी सिद्ध संतों और भक्तों का संग कर सकते हैं। उन्होंने अपनी वाणियों का जो अनमोल भंडार हमारे लिए छोड़ रखा है उनमें महान सामर्थ्य है। रामचरितमानस का प्रेम पूर्वक गान करेंगे तो सर्वत्र हम गोस्वामी तुलसीदास जी को हमें उपदेश करता पाएंगे। यह

उनका संग ही तो है। ऐसी चौपाइयों पर कुछ क्षण के लिए रुकें, कुछ क्षण के लिए आंखें बंद कर उनके उपदेश को हृदय में उतरने का अवसर दें। मिल जाएगा उनका संग, जिसके लिए अपनी इच्छा के अलावा और किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं है। और फिर प्रभु की कृपा तो सर्वोपरि है ही। भक्त के पोषण की बड़ी चिंता रहती है उन्हें। बस लालसा होनी चाहिए, यही तो मोल बताया गया है।

भगवान के इस उपदेश की विलक्षण बात यह है कि भक्त को किस प्रकार उपासना करनी चाहिए, इसके क्रियात्मक रूप का वर्णन भी विस्तार से हुआ है।

भगवान कहते हैं – उद्धव, जो मेरी भक्ति करना प्राप्त करना चाहता है, वह मेरी मूर्ति और मेरे भक्त जनों का दर्शन, स्पर्श, पूजा, सेवा करे और मेरे गुण तथा कर्मों का कीर्तन करे। मेरी कथा सुनने में श्रद्धा रखे और मेरा स्मरण करता रहे। जो कुछ उसे मिले उसे मुझे समर्पित कर दे। केवल पदार्थ ही नहीं, अपने कर्मों को भी मुझे समर्पित करते हुए ही करे। इतना ही नहीं, अपने को मेरा दास मान कर अपने आप को भी समर्पित कर दे।

मेरे जन्म आदि के उत्सव मनाए, संगीत, नृत्य आदि के द्वारा मंदिरों में उत्सव करे-करवाए। वार्षिक त्योहारों के दिन मेरे स्थानों की यात्रा करे, विविध उपहारों से मेरी पूजा करे, व्रतों का पालन करे, मंदिरों में मेरी मूर्तियों की स्थापना में श्रद्धा रखे। यदि यह काम वह अकेला न कर सके तो औरों के साथ मिल कर करे। सेवक की भांति श्रद्धा भक्ति के साथ निष्कपट भाव से मेरे मंदिरों की साफ सफाई तथा अन्य सेवा करे।

अभिमान न करे, दम्भ न करे, अपने शुभ कर्मों का ढिंढोरा न पीटे। मेरे चढावे को काम में लेने की बात तो दूर, मुझे समर्पित दीपक के प्रकाश से भी अपना काम न ले। किसी दूसरे देवता को चढाई गई वस्तु मुझे न चढाए। संसार में जो वस्तु अपने को सबसे प्रिय, सबसे अभीष्ट जान पड़ती हो, वह मुझे समर्पित कर दे। ऐसा करने से वह वस्तु अनन्त फल देने वाली हो जाती है।

मंत्रों के द्वारा सूर्य में, हवन के द्वारा अग्नि में, आतिथ्य के द्वारा संत महात्माओं में, हरी हरी घास के द्वारा गौ में, जल-पुष्प आदि के द्वारा जल में और समदृष्टि के द्वारा सभी

प्राणियों में मेरी आराधना करनी चाहिए, क्योंकि मैं ही सभी में आत्मा के रूप से स्थित हूं।

बहुत लोग जीवन भर पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत आदि करते रहते हैं, जन्माष्टमी आदि भी धूम धाम से मनाते हैं, लेकिन उनकी चित्त वृत्ति में विशेष कोई अंतर नहीं आता। एक बड़ा वर्ग ऐसा भी है जो कहता है कि भक्ति तो भाव की बात है। मंदिर जाना, पूजा पाठ करना, व्रत और उपवास करना, तीर्थ यात्रा करना – ये सब तो आडम्बर मात्र है, हम इसे बेकार मानते हैं। लेकिन भगवान ने एक समग्रता की दृष्टि दी है। इसीलिए तो उद्धव जी ने सब कुछ भगवान के श्री मुख से ही कहलाया है। भगवान स्वयं ही अपनी बात यहीं से आरम्भ कर रहे हैं तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि इनका महत्व है।

फिर एक बार स्मरण करें कि उद्धव जी ने प्रार्थना की थी कि भगवन्, आप परम तत्व का मार्ग इस प्रकार समझाइये कि हम घर संसार में फंसे हुए लोग भी इसका आचरण सरलता से कर सकें। भगवान ने अभी तो जो बातें बताई हैं वे सब विशेष रूप से सांसारिक कर्मों में लगे हुए लोगों के

लिए हैं । जो एक मिनट भी आसन पर हाथ बांध कर नहीं बैठ सकते और एक मिनट के लिए भी प्रभु के स्वरूप के ध्यान में मन को एकाग्र नहीं कर सकते, उनका भी मन हो प्रभु को प्रेम करने का, प्रभु का प्रेम पाने का, तो कहीं से प्रारम्भ करने का तरीका तो मिले । आगे की बात भगवान आगे बताएंगे । अभी तो अपने पास जो पूंजी या साधन है उसी के साथ यात्रा पर चल पड़ना है ।

संत महात्मा तीन प्रकार की सेवा बताते हैं - वित्तजा, तनुजा और मानसी । वित्तजा सेवा में वित्त, अर्थात् धन ही साधन है। धन को भगवान की सेवा में लगाना है । तनुजा सेवा में तन लगाया जाता है और मानसी सेवा में तो बस मन ही साधन है। सर्वोत्कृष्ट तो मानसी सेवा ही है, पर भक्त का मन इस सेवा के योग्य वित्तजा और तनुजा सेवा के बाद ही बनता है । पहले हम स्वयं अपने हाथों से उत्तम खीर बना कर भोग लगाएंगे तब ही एक दिन वह स्थिति आएगी जब हम मानसी में ही खीर बना कर उसमें मेवा मिश्री मिला कर गिरधर गोपाल को निवेदित करें और उन्हें प्रेम से मन मंदिर में आरोगते हुए देखें । जिसे पता ही नहीं कि खीर कैसे बनाई

जाती है वह यह मानसी सेवा कैसे करेगा भला! जीवन को सेवामय बनाना है। धन सेवा में लगेगा तो तन सेवा में लगेगा और तन सेवा में लगेगा तो मन सेवा में लगेगा।

इसीलिए भगवान ने अभी जो साधन बताए वे वित्तजा और तनुजा सेवा के अंग हैं। शुरुआत हमें यहीं से करनी है। हमारी वृत्ति कर्मों में लगी है। संसार के लिए कर्म करते करते कुछ कर्म भगवान के निमित्त भी हों। हम छुट्टी मनाने परिवार के साथ हिल स्टेशन जाना चाहते हैं तो उसके स्थान पर कभी सपरिवार तीर्थ यात्रा करें, कथा कराएं, उसमें धन खर्च करें, सगे सम्बन्धी को साथ लेकर खूब उत्सव मनाएंतो कुटुम्ब में रचे बसे मन को आनन्द मनाने की जैसी आदत पड़ी है वह भी सध जाएगी और धीरे-धीरे जीवन में भगवत् प्रीति का रस घुलने लगेगा। एक मन तो होता है बिलकुल औंधे पड़े घड़े की भांति - कितनी भी वर्षा हो जाए, उसमें एक बूंद पानी नहीं भरता। दूसरा होता है वह जो उलटता पलटता रहता है। उसमें वर्षा का जल भरता तो है पर टिक नहीं पाता। यह मन भी कभी प्रभु की ओर उन्मुख होता है, और अगले ही पल संसार की ओर मुख कर लेता है। इसलिए उनकी कृपा के

रस-बिन्दुओं का कभी-कभी अहसास तो होता है पर ये रस कण ठहर नहीं पाते । ऐसे ही मन को साधना है हमें । यात्रा कितनी भी लम्बी हो, सबसे महत्वपूर्ण वह समय होता है जब हम सही दिशा में चलना प्रारम्भ करते हैं । चलना शुरू कर दिया और दिशा सही हो तो एक दिन पहुचना निश्चित है जब मन को वह परम विश्राम मिलेगा जिसकी तलाश में वह भटक रहा है इधर से उधर । जब भगवान स्वयं अपने श्री मुख से ही अपनी प्राप्ति का पथ बता रहे हों तो इससे बढकर और कौन सा उपदेश हो सकता है?

भगवान ने यह भी ध्यान में दिलाया कि सब प्राणियों में मैं ही हूं । अतः सेवा का भाव सम्पूर्णता को तब प्राप्त करता है जब सब प्राणियों के प्रति सेवा का भाव मन में आ जाता है । विभिन्न प्रकार के प्राणियों की सेवा के विभिन्न रूप भी बता दिए ।

भगवान तो दिशा भी बताते हैं और बीच बीच में मार्ग और गंतव्य की महिमा बता कर उत्साह वर्धन भी करते हैं ।

भगवान प्रेम स्वरूपा भक्ति की महिमा बताते हुए कहते हैं कि जो सब ओर से बेपरवाह होकर केवल मुझसे प्रेम

करता है, मैं उसके हृदय में परम आनन्द के रूप में स्फुरित होने लगता हूं । वह जिस सुख का अनुभव करता है वह किसी विषयी व्यक्ति को हो ही नहीं सकता । वह मेरे सान्निध्य का अनुभव करता हुआ सदा सर्वदा संतोष का अनुभव करता है और उसके लिए आकाश का एक एक कोना आनन्द से भरा हुआ है ।

इसी विषय पर पूज्यवर श्री श्याम दास जी ने मुझे जो समझाया था जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है, उसे पुनः स्मरण कर लें । उन्होंने तो मानवीय दृष्टिकोण से इन शब्दों का प्रयोग किया था कि यह प्रेम स्वरूपा भक्ति पंचम पुरुषार्थ है और मोक्ष तक की भी कामना नहीं रहती तब जाकर यह प्राप्त होती है । भगवान ने भी यही बात और इससे भी ऊंची बात अपने दृष्टिकोण से कही है।

भगवान कहते हैं कि जिसने अपने आप को मुझे सौंप दिया है वह न तो पृथ्वी का राजा बनना चाहता है न स्वर्ग लोक का । वह योग से प्राप्त होने वाली बड़ी बड़ी सिद्धियां भी नहीं चाहता, वह मोक्ष तक की भी अभिलाषा नहीं करता।(११.१४.१४)

ऐसा मेरा जो भक्त मेरे चिंतन में लीन रहता है उस महात्मा के पीछे मैं निरंतर यह सोच कर घूमा करता हूं कि उसके चरणों की धूल उड़ कर मेरे ऊपर पड़ जाए और मैं पवित्र हो जाऊं।(११.१४.१६)

अपने ऐसे भक्तों का बहुत प्रकार से गुणगान किया है भगवान ने यहां । इनमें एक श्लोक संतों के बीच बहुत प्रसिद्ध है –

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं

रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।

विलज्य उद्गायति नृत्यते च

मद् भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति।।

अर्थात् जिसकी वाणी प्रेम से गद् गद् हो रही है, जिसका चित्त (मेरी याद में) द्रवित होता रहता है, जो मुझे याद करते हुए कभी हंसने लगता है, कभी रोने लगता है, कहीं लाज छोड़ कर ऊंचे स्वर से गाने लगता है तो कहीं नाचने लगता है, भैया उद्धव, मेरा वह भक्त न केवल अपने को, बल्कि सारे संसार को पवित्र कर देता है। (११.१४.२४)

भगवान अपने रस सिद्ध भक्तों और उस आनन्द का वर्णन कर रहे हैं जो वे अपने इन सिद्ध भक्तों को प्रदान करते हैं। **‘वह मेरे सान्निध्य का अनुभव करता हुआ सदा सर्वदा संतोष का अनुभव करता है और उसके लिए आकाश का एक एक कोना आनन्द से भरा हुआ है’-**

यह पढते ही लोभ जागता है न? बड़े सुख का लोभ ही तो मिले हुए सुख को पीछे छोड़ कर आगे बढने की प्रेरणा देता है, पर फिर लगता है कि हम संसार में रचे बसे तो इस परम आनन्द को पाने योग्य कभी नहीं बन सकते । लेकिन देखें भगवान क्या कहते हैं – उद्धव, मेरे जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हुए हैं और संसार के विषय बार बार उन्हें बाधा पहुंचाते रहते हैं, अपनी ओर खींच लिया करते हैं, वे भी क्षण क्षण में बढने वाली मेरी भक्ति के प्रभाव से प्रायः विषयों से पराजित होने से बच जाते हैं।(११.१४.१८)

जैसे आग में तपने पर स्वर्ण मैल छोड़ देता है और अपने शुद्ध रूप में स्थित हो जाता है, वैसे ही वे भक्त भी धीरे धीरे मेरे भक्ति योग के द्वारा कर्म वासनाओं से मुक्त हो कर मुझको ही प्राप्त हो जाता है क्योंकि मैं ही उसका वास्तविक स्वरूप हूं

। मेरी पावन लीला के कथन श्रवण से ज्यों ज्यों उसके चित्त का मैल धुलता है, उसे इस सूक्ष्म तत्व का दर्शन होने लगता है ।

जो पुरुष विषयों का चिंतन करता है उसका चित्त विषयों में फंस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है उसका चित्त मुझमें तल्लीन हो जाता है । इसलिए तुम और साधनों और फलों का चिंतन छोड़ कर मेरे चिंतन से अपने मन को शुद्ध करते रहो । बस विषयी व्यक्तियों के संग से से सावधान रहो। दुस्संग से साधक को क्लेश और बंधन में पड़ना पड़ता है ।(११.१४.२५-३0)

भगवान ने यही तो कहा है यहां – **मेरे जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हुए हैं** और संसार के विषय बार बार उन्हें बाधा पहुंचाते रहते हैं, वे भी क्षण क्षण में बढने वाली मेरी भक्ति के प्रभाव से प्रायः विषयों से पराजित होने से बच जाते हैं ।

यहां एक एक शब्द ध्यान देने योग्य है । भगवान यह जानते हैं कि यह मेरा भक्त है, इसके हृदय में मेरे लिए प्रेम तो है पर घर-परिवार और भोगों का भी प्रबल आकर्षण है ।

इसके कारण कभी-कभी ग्लानि का भी अनुभव होता है । संसार से मिलने वाले दुखों से घबरा कर मेरी शरण में भी आता है, लेकिन फिर घूम कर उन्हीं की ओर चला जाता है। ऐसे ही भक्त के लिए वे कहते हैं कि क्षण क्षण में बढने वाली मेरी भक्ति के प्रभाव से **प्रायः** विषयों से पराजित होने से बच जाता है। यानि उसके कदम डगमगाते तो रहते हैं पर प्रायः मेरी भक्ति उसे गिरने से बचा लेती है। हां, एक सावधानी चाहिए कि संग अच्छा हो, दुस्संग न हो।

भगवान के इन शब्दों से स्पष्ट है कि वे अपने निर्बल भक्तों को तुच्छ मान कर केवल रस सिद्ध भक्तों को ही रस दान करने में नहीं लगे रहते, निर्बल भक्तों की रक्षा तो वे क्षण क्षण करते हैं।

संत कहते ही हैं - सुने री मैंने निरबल के बल राम। वे पतित-पावन ही कहलाते हैं न कि संत-पावन, साधु-पावन या महाराज-पावन।

भगवान श्री राम ने तो देवर्षि नारद को स्पष्ट कहा –

सुनु मुनि तोहि कहऊं सहरोसा,

भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।

करऊं सदा तिनकै रखवाली,

जिमि बालक राखे महतारी ।।

भगवान ने तो पुरुष रूप में अवतार लिया था, उन्हें तो कहना चाहिए था कि अपने निर्बल भक्तों की **रक्षा** वे पिता के समान करते हैं। पर उन्होंने कहा कि मैं महतारी अर्थात् मां के समान उनकी **रखवाली** करता हूं। यह दिखाता है कि उनका व्यवहार कितना वात्सल्य पूर्ण है। रक्षा तो विपत्ति आने पर की जाती है पर रखवाली तो पल पल की जाती है। मां रक्षा नहीं, रखवाली करती रहती है शिशु की। जब तक बालक दुर्बल रहता है, डगमगाते हुए चलता है तब तक तो वह बहुत ही सतर्क रहती है, उसकी संभाल करती है, यदि वह कुछ खतरनाक वस्तु को छूने लगता है तो मां दौड़ कर उसे बचाती है। अजितेन्द्रिय भक्त ऐसा ही बच्चा है उनका।

यहां एक चक्कर है। यदि हम अपने आपको विपत्ति में घिरा पाएं, यदि कोई ऐसी स्थिति सामने आ जाए जिसके बारे में हम स्पष्ट जानते हों कि कितना बड़ा खतरा है और ऐसे समय में भगवान के द्वारा हमारी **रक्षा** हो तो हम बड़ा आभार

मानते हैं, सबको कहते हैं कि आज तो बचने की कोई उम्मीद नहीं थी, अवश्य ही भगवान ने पुकार सुनी और बचा लिया। पर हम ठहरे अबोध। हमें तो प्रायः पता ही नहीं होता कि जिसके साथ खेलना चाह रहे हैं उसमें क्या खतरा है। ऐसे में रखवाली करने वाली मां झपट कर हमें उससे दूर कर देती है तो हम रोते हैं, उस करुणामयी मां को निष्ठुर समझते हैं। है न ऐसा? पर यह होती है उस सर्वान्तर्यामी ममतामय की रखवाली। यह भरोसा हमें होना चाहिए। यह प्रसंग आरम्भ ही हुआ था नारद जी की इस जिज्ञासा से कि प्रभु आप तो भक्त वत्सल हैं, आपको तो हम 'भक्त वांछा कल्पतरु' कहते हैं, फिर आपका यह भक्त विवाह करना चाहता था तो आपने होने क्यों नहीं दिया? उनकी शंका के समाधान के लिए ही भगवान ने ये बातें कही। उन्होंने स्पष्ट भी किया-

गह शिशु बच्छ अनल अहि धाई,
तहं राखई जननी अरगाई।

हे देवर्षि, यदि अबोध शिशु आग या सांप को पकड़ने दौड़ता है तो जननी उसे पकड़ कर उन खतरों से दूर कर देती है। आशय यह है कि प्रभु की ही माया के वशीभूत होकर

नारद जी जैसा भक्त भी जब विवेक खो बैठता है तो भगवान उसे अबोध शिशु मान कर उसकी संभाल करते हैं। फिर हमें कैसे नहीं संभालेंगे? बहुत ही मार्मिक और दिल को छू देने वाला प्रसंग है यह। यदि कुछ मनचाहा नहीं हो रहा तो हमें गोस्वामी तुलसीदास जी के साथ का यह सत्संग स्मरण कर लेना चाहिए। मां अपने डगमगाते बालक को कदम कदम पर गिरने से भी बचाती है और कभी कभी गिरने भी देती है ताकि वह गिरने के बाद उठ कर चलना भी सीखे। इसी आशय से भगवान ने यहां कहा है कि मेरी भक्ति के प्रभाव से मेरे भक्त **प्रायः** विषयों से पराजित होने से बच जाता है। तात्पर्य यह है कि जितेन्द्रिय न होने के कारण भक्त विषयों की ओर जाता तो रहता है पर अन्तरात्मा से उस अन्तर्यामी की आवाज भी आती रहती है और प्रायः ये विषय उस पर ऐसे हावी नहीं हो जाते कि उसका पतन ही हो जाए।

इस प्रकार भगवान वर्णन कर दिया कि भक्त को वे कैसा आनन्द प्रदान करते हैं और कैसे उसकी रक्षा करते हैं। इसके साथ यह भी बताया कि इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए पहला कदम कैसे बढाना है।

आगे की बात वे आगे बताएंगे।

***

श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

भक्ति - पारस मणि

भगवान ने अभी तक जो साधन बताए - नित्य पूजा, तीर्थ यात्रा, कथाओं का आयोजन, मंदिरों में सेवा, सब प्राणियोंको उनका ही स्वरूप जान कर उनकी सेवा इत्यादि, ये तो बहिरंग साधन हैं, अर्थात् वे क्रियाएं जिनमें मुख्यतः शरीर या इन्द्रियां ही लगती हैं। ये सब तो बस इसलिये हैं ताकि हमारा उलटा पड़ा या उलटता पलटता पात्र सीधा हो

जाए और प्रभु का कृपा-रस, उनका प्रेम-रस इसमें भर सके, ठहर सके। पर यात्रा का विराम यहीं नहीं होता।

इसके आगे भगवान कहते हैं कि मेरा भक्त मेरी लीला कथाओं का श्रवण करता है, गान करता है, तो उसके चित्त का मैल धीरे धीरे घुलता जाता है और दृष्टि निर्मल होती जाती है।

यह निर्मल दृष्टि ही हमें उनकी कृपा का दर्शन कराती है। उनकी अनन्त कृपा है हमपर, किन्तु हमारा मन उनकी ओर ध्यान ही नहीं देता और घर संसार की प्रतिकूलता का सिनेमा ही बहुत बड़ी HD स्क्रीन पर दिखाता रहता है जिसमें छोटे छोटे तत्व भी बहुत बड़े और बड़ी बारीकी से दिखाई देते हैं। यह मलिन मन की स्क्रीन है। निर्मल मन अनुकूलता और प्रतिकूलता, दोनों में उनकी कृपा का दर्शन कराता है। जो हमें प्रतिकूलता जान पड़ रही है, वह हमारी पल पल रखवाली करती मां का तरीका है हमें दुर्बल से सबल बनाने का। इस दर्शन के बाद भक्ति की राह सुगम हो जाती है। हमें इन सिद्ध भक्तों की भांति निरपेक्ष प्रेम के आनन्द की उपलब्धि भले ही नहीं हुई हो, किन्तु कभी-कभी कुछ अनुभूतियां प्रभु

अवश्य ही देते हैं जो हमें इस पथ पर लगाए रखती हैं। फिर विशुद्ध प्रेम रूपी पारस मणि का स्पर्श होता है और यह मन कंचन हो जाता है।

हमारे ये कृपामय लीलामय प्रभु ऐसे हैं कि प्रेम की अग्नि भी वे ही जलाते हैं और प्रेम की नदिया भी वे ही बहाते हैं, अतः हम उनके द्वारा उद्धव जी के माध्यम से कही गयी कुछ और बातों को देख लें ताकि यह अग्नि भली भांति प्रज्वलित हो जाए।

उद्धव जी ने कहा – हे भगवन्, जैसे आपने मधु दैत्य को मारकर वेदों की रक्षा की थी, वैसे ही अपने धर्म की भी रक्षा कीजिए। हे परमात्मन्, जब आप पृथ्वी तल से अपनी लीला का संवरण कर लेंगे तो इस धर्म का लोप हो जाएगा तो फिर उसे कौन बताएगा? आप समस्त धर्मों के मर्मज्ञ हैं; इसलिए प्रभो, आप उस धर्म का वर्णन कीजिए जो आपकी भक्ति प्राप्त कराने वाला है और यह भी बताइये कि किसके लिए उसका कैसा विधान है?

उद्धव जी ने भगवान से अनुरोध किया तो भगवान ने सत्रहवें और अठारहवें अध्याय में बहुत ही विस्तार से

ब्रम्हचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास धर्म का वर्णन किया। अंत में सार रूप से कहा -

संन्यासी का मुख्य धर्म है – शांति और अहिंसा।

वानप्रस्थी का मुख्य धर्म है - तपस्या और भगवद् भाव।

गृहस्थ का मुख्य धर्म है - प्राणियों की रक्षा और यज्ञ-याग आदि।

ब्रह्मचारी का मुख्य धर्म है - आचार्य की सेवा।

चारों वर्णों के लिए सामान्य धर्म बताए – 'मन, वाणी और शरीर से किसी की हिंसा न करे, सत्य पर दृढ रहे, चोरी न करे, काम क्रोध लोभ से बचे और जिन कामों को करने से समस्त प्राणियों का भला हो, वही करे।

शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासना, सरलता, तीर्थ सेवन, जप, समस्त प्राणियों में मुझे ही देखना, मन, वाणी और शरीर का संयम, अस्पृश्य वस्तु को न छूना, अभक्ष्य वस्तुओं को न खाना और जिससे बोलना नहीं चाहिए उससे न बोलना – ये नियम भी सबके लिए हैं।

उद्धव, इन नियमों का पालन करने वाला सदाचारी और धर्मात्मा कहलाता है। **इस धर्मानुष्ठान में मेरी भक्ति का स्पर्श हो जाए तब तो इससे परम कल्याण की प्राप्ति हो जाएगी'।**

सभी शास्त्र बताते हैं और हम भी समझते हैं कि जीवन धर्म और सदाचार से युक्त होना चाहिए। दुराचार और अधर्म से यदि कुछ प्राप्त कर भी लिया तो एक बार तो लगेगा कि उपलब्धि हुई, पर बाद में इसका बुरा परिणाम भोगना ही होगा। कल्याण तो सदाचार और धर्म से ही संभव है। लेकिन यहां भगवान ने एक विलक्षण बात कही कि कल्याण तो होगा लेकिन परम कल्याण तो भक्ति के स्पर्श से ही होगा। यही वह पारस मणि है जिसके स्पर्श से सामान्य धातु स्वर्ण बन जाती है। कैसी महिमा बता दी भक्ति की। इसे जरा स्पष्टता से समझ लें।

ऐसे कुछ लोग होते हैं जो बड़े समाज सेवी होते हैं, सबका भला सोचते हैं, भला करते हैं, लेकिन भगवान से कोई लेना-देना नहीं रखते। मुझे ऐसे एक सज्जन मिले। चर्चा के दौरान उन्होंने कहा कि मैं तो भगवान को कहता हूं कि मैं

तो तुम्हारे बिना भी अच्छी तरह से हूं। तुम्हें मेरी चिंता करने की कोई जरूरत नहीं है। अनेक ऐसे लोग हैं जो तुमको पुकारते रहते हैं, तुम उनकी चिंता करो।

वे सचमुच सज्जन व्यक्ति थे। उनकी वाणी में दम्भ और अभिमान की गंध लगती नहीं थी, किन्तु जिसे यह समझ में ही नहीं आता कि उसको सामर्थ्य देने वाला कोई और है, जिसने बिना मांगे ही सब कुछ दिया है; उसे अपनी शक्ति का गुमान न हो, ऐसा संभव हो सकता है क्या?

पूज्य स्वामी अखंडानन्द जी बताते थे कि निष्काम कर्म को ही कर्म योग नहीं कहते। सत्कर्म हो या निष्काम कर्म, वह कर्म योग तभी बनता है जब उसे भगवद् अर्पण किया जाए- हे प्रभु, लोगों को दिखता है कि मैंने किया पर मैं जानता हूं कि करने वाले तो तुम ही हो। तुम्हारी बड़ी कृपा हुई है मुझपर कि तुमने मुझे अपना माध्यम बनाया। मुझमें तो अपनी कोई योग्यता है नहीं, बस तुम करवा लेते हो। ऐसी कृपा बनाए रखना भगवन्!

अब बताइये कि दोनों प्रकार के पुरुषों के मन की निर्मलता में अंतर होगा कि नहीं? अधिक विवेचना की आवश्यकता ही नहीं है।

स्वामी अनुभवानन्द जी के समझाने का तरीका अनोखा होता है। एक बार उनसे मैंने पूछा कि मुझे क्या करना चाहिए तो उन्होंने कहा कि कुछ भी करो पर संसार का भला करने का विचार कभी भी मत करना। मैं तो हक्की-बक्की सी उन्हें देखने लगी – यह क्या कह रहे हैं? उन्होंने बताया – 'मैं पूर्वोत्तर भारत के एक प्रांत में विचरण कर रहा था। वहां एक बुजुर्ग मिले जो अनेक वर्षों से उस क्षेत्र के आदिवासियों के लिए कल्याण की योजनाएं चला रहे थे। मैंने उनके त्याग और समर्पण की बड़ी सराहना की तो उन्होंने बड़ी कड़वाहट भरे लहजे में कहा – 'लेकिन स्वामीजी मैं आपको बता दूं कि ये लोग कुत्ते की दुम हैं। मैंने इनके लिए अपना जीवन खपा दिया पर इन्हें जरा भी समझ नहीं आई है और आज मेरे ही दुश्मन बन बैठे हैं'।

फिर स्वामी जी ने मुझे समझाया - 'देखो, होना तो यह चाहिए कि सबमें God देखें पर उन्हें जिनमें God के दर्शन

होने चाहिए थे उनमें dog दिखने लगे। क्या यही जीवन की उपलब्धि है?’

भगवान ने यह सृष्टि बनाई है । उनकी भौंहों के संकेत मात्र से ब्रम्हाण्ड उलट पुलट हो सकते हैं । अर्जुन को विश्व रूप दिखाया तो यह दृश्य भी दिखा दिया कि भीष्म, द्रोण और अन्य कौरव वीर उनके मुख में प्रवेश कर रहे हैं, उनके भयानक दांतों के बीच फंस रहे हैं और वे अपनी लपलपाती जिव्हा से उन्हें चाट रहे हैं । इतना भयंकर दृश्य दिखाने के बाद कहा – मैंने इन सबको मार ही दिया है अब तुम तो बस निमित्त मात्र बनो ।

इसीलिए परम कल्याण की बात यही है कि ‘मैं भला करता हूं’ के स्थान पर भाव यह बना रहे कि प्रभु की बडी कृपा हुई कि सेवा के लिए मुझे चुना, मुझे अवसर दिया । यही है भक्ति रूपी पारस मणि का स्पर्श । इसके बाद हम किसी का भला ‘करते’ नहीं, हमारे द्वारा भला ‘होता’ रहता है।

यही है ‘कर्म’ को ‘कर्म योग’ बनाना। कर्म से तो सुख-दुख की प्राप्ति होती है और कर्म योग से परम आनन्द की प्राप्ति होती है।

श्री हित अम्बरीष जी कहते हैं कि मुझे यह बात ठीक नहीं लगती कि सेवा से प्रभु प्रसन्न होते हैं। वास्तव में तो जिस पर प्रभु प्रसन्न होते हैं वही सेवा करता है। इनके प्रवचन तो प्रेम रस से पूरी तरह से लटे पटे होते हैं और साथ ही साथ हम जैसों को भजन साधन के लिए सम्पूर्ण मार्ग दर्शन भी मिलता है। मैं कह नहीं सकती कि उद्धव गीता की इस व्याख्या में कितने भाव मुझे उनके प्रवचनों से मिले हैं। यदि आधे घंटे उनका प्रवचन सुन लिया जाए तो कोई न कोई सूत्र ऐसा मिल ही जाता है जिसे नोट कर दिन भर चिंतन कर सकते हैं। वे भी यही कहते हैं कि मैं वही कहता हूं जो मैंने संतों की वाणियों से पाया है। उन्हें कोटि कोटि प्रणाम।

अब जरा भगवान के प्राण प्यारे भक्त श्री हनुमान जी के साथ भी सत्संग कर लें। तुलसीदास जी के साथ भी सत्संग हो जाएगा। तुलसीदास जी ने राम चरित मानस में वर्णन किया है कि जब हनुमान जी लंका जला कर और सीता माता

की खोज कर प्रभु श्रीराम के पास आए तो सारा वर्णन सुन कर प्रभु ने द्रवित हृदय से कहा – 'पुत्र, मन में खूब विचार कर मैं समझ गया हूं कि तुम्हारे उपकार से उऋण मैं कभी नहीं हो सकता' ।

सुन कर हनुमान जी तो त्राहि त्राहि करते हुए उनके चरणों में लोटने लगे । प्रभु बार बार उठाना चाहते हैं पर वे उठ नहीं रहे। प्रभु उनके सर पर प्रेम से हाथ फिरा रहे हैं । हनुमान जी कहते हैं कि प्रभो, मैं तो वानर हूं । वानर तो शाखामृग कहलाता है । उसका तो बस इतना ही पुरुषार्थ होता है कि वह एक शाखा से दूसरी पर उछल कूद कर लेता है - साखामृग के बड़ी मनुसाई, साखा तें साखा पर जाई । हे प्रभो, मैंने सिंधु को लांघा, लंका जलाई, राक्षसों को मारा - सो सब तव प्रताप रघुराई, नाथ न कछु मोरी प्रभुताई । हे भगवन्, जिस पर आपकी कृपा हो वह क्या नहीं कर सकता?

इस प्रसंग का चिंतन करना हनुमान जी के साथ सत्संग करना ही है । भक्त वही है जिसकी यह दृढ मति हो कि मेरे द्वारा यदि कोई महत् कार्य होता है तो वह मेरी महिमा नहीं, भगवान का अनुग्रह है कि इस कार्य के लिए मुझे चुना और

सामर्थ्य भी दी। हनुमान जी ने भी यही कहा कि इतने वानरों में मुद्रिका तो आपने मुझे ही दी क्योंकि आपको मुझसे ये कार्य कराने थे।

तुलसीदास जी भगवान शिव जी के साथ भी सत्संग करा देते हैं। भोलेनाथ अपने पुत्र को अपने पास बैठाते, अपने हृदय से लगाते और सर पर हाथ फेरते हुए प्रभु को प्रेम की वर्षा करते हुए देखकर आनन्द में मगन हो गए और कुछ देर बाद चेतना हुई तो माता पार्वती को यह वर्णन सुनाते हुए कहा –

यह संबाद जासु उर आवा, रघुपति चरन भगति सोइ पावा।

देखिए गोस्वामी जी ने कितनी खूबसूरती के साथ भगवान के इस कथन की चित्रमयी और भावमयी व्याख्या कर दी कि धर्मानुष्ठान में यदि भक्ति का स्पर्श हो जाए तब तो इससे परम कल्याण की प्राप्ति हो जाती है।

सदाचार और धर्म से सुख और यश की प्राप्ति हो सकती है पर हनुमान जी को जो परम फल मिला उसका मूल यही था कि उन्होंने इसके पीछे प्रभु की कृपा और उनकी ही

सामर्थ्य देखी और अपने को बस उनका एक कृपा पात्र दास ही माना। इसे ही कहते हैं सत्कर्म में भक्ति का स्पर्श। यही है कर्म योग।

मैंने मलूकपीठाधीश्वर श्री राजेन्द्र दास महाराज जी, परम पूज्य राजेश्वरानन्द महाराज जी, ऋषिवर श्री गोविन्द देव गिरि जी और अन्य कई संतों से यह प्रसंग श्रवण किया था। इसके बाद जब रामचरितमानस के मूल स्वरूप का बहुत धीरे-धीरे, चिंतन-मनन करते हुए पाठ करने का विचार किया तो अनेक प्रसंगों ने हृदय को भाव से भर दिया, जिनमें से एक दिव्य प्रसंग यह भी है। मैंने पुनः इन संतों के प्रवचनों से इस विशेष प्रसंग को बार बार सुना। मन भरता ही नहीं था। ऐसा लगा कि बहुत कहा गया पर बहुत कम ही कहा गया है। संतों की वाणियों के प्रभाव से मन पर भगवान के चरणों में लोटते हुए हनुमान जी की छवि अंकित हो गई और विचार आने लगा कि सीता मैया की करुण दशा का जो वर्णन उन्होंने किया है, उस समय कितना रोए होंगे? बिलखते हुए अवश्य ही कहा होगा कि प्रभु, मैं मैया को अपने साथ ही ले आना चाहता था, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उन्हें जिस अवस्था में

छोड़ कर मुझे आना पड़ा उसे याद करते हुए मेरा कलेजा फटने लगता है। अवश्य ही प्रभु के नेत्रों से भी प्रेमाश्रुओं की अविरल धार बह चली होगी। अवश्य ही उन्होंने अपने प्राण प्यारे भक्त श्री हनुमान को सांत्वना देते हुए कहा होगा कि कलियुग में अनेक साधन हीन भक्त मिलेंगे तुम्हें। उनको मुझसे मिलाने की विशेष सेवा मैं तुम्हें सौंपता हूं। तुम जो अभी नहीं कर पाए वह करने का भरपूर अवसर मिलेगा तुम्हें। इस चिंतन ने मेरे मन में एक विश्वास दृढ कर दिया कि 'राम काज करिबे को आतुर' हनुमान जी मुझ दीन पर अवश्य कृपा करेंगे कभी न कभी।

पर कभी-कभी लगता था कि ऐसा कुछ तुलसीदास जी ने लिखा तो है नहीं, यह तो मेरे मलिन चित्त की कल्पना है, पर उद्धव गीता में भगवान ने विशुद्ध हृदय वाले संतों के सत्संग की महिमा जिस विस्तार से बताई है और कहा है कि ऐसे संतों का संग साधक की अन्तर्दृष्टि को जागृत करता है, तो इसे पढते हुए अब मुझे विश्वास हो गया है कि यह मेरे मलिन चित्त की कल्पना नहीं है वरन् इन विशुद्ध चित्त संतों

के सत्संग के प्रसाद से प्राप्त हुई अन्तर्दृष्टि ही थी। तभी मैं यहां इस अनुभव को लिखने का साहस कर पाई हूं।

भगवान कहते हैं कि भक्ति की प्राप्ति सत्संग से होती है। जिसे भक्ति की प्राप्ति हो जाती है, वह मेरी उपासना करता है, मेरे सान्निध्य का अनुभव करता है। इस प्रकार जब उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब वह संतों के उपदेशों के अनुसार, उनके द्वारा बताए हुए मेरे परम पद को – वास्तविक स्वरूप को सहज ही में प्राप्त हो जाता है।

प्यारे उद्धव, ऐसा मेरा निश्चय है कि सत्संग और भक्ति योग – इन दो साधनों का एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना चाहिए। प्रायः इन दोनों के अतिरिक्त संसार सागर से पार होने का और कोई उपाय नहीं है।

दो बातें हो गई – पहले सत्संग और फिर सत्संग में संत से जो सीखा उस भक्ति योग के अनुरूप साधन-भजन। भक्ति योग के विषय में भी भगवान आगे बहुत प्रकाश डालने वाले हैं। उद्धव गीता तो वास्तव में भगवान के हृदय से उमड़ता हुआ भक्ति रस का सिंधु है जिसका एक एक बिंदु हमारे हृदय को पावन और शीतल करने में समर्थ है।

गोस्वामी बिंदु जी की वाणी है - पता प्रेम के सिंधु का पा रहा हूं, कि इक बिंदु में ही बहा जा रहा हूं।

***

श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

कर्म, ज्ञान और भक्ति

उद्धव जी ने कहा – हे परमात्मन्, आप ही विश्व के स्वामी हैं। जो पुरुष इस संसार में तीनों तापों के थपेडे खा रहे हैं और बाहर भीतर से जल भुन रहे हैं उनके लिए आपके चरणों की छत्रछाया के अतिरिक्त और कोई भी आश्रय नहीं दिखता । हे भगवन्, आपका यह सेवक अंधेरे कुएं में पड़ा हुआ है। काल रूपी सर्प ने इसे डस रखा है, फिर भी विषयों के छुद्र सुखों के भोग की तृष्णा मिटती नहीं, बल्कि बढती ही जा रही है। आप कृपा करके इसका उद्धार कीजिए।

उत्तर में भगवान ने वेद वाणीऔर तत्व ज्ञान संबन्धी अनेक बातें बताने के बाद कहा – प्रिय उद्धव, मैंने ही वेदों में तथा अन्यत्र भी मनुष्य के कल्याण के लिए तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया है क्योंकि मनुष्यों की प्रकृति अलग अलग होती है। ये तीन हैं - ज्ञान, भक्ति और कर्म। मनुष्य के परम कल्याण के लिए इनके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है।

जिनके चित्त में कर्म और फलों से वैराग्य भी नहीं है और उनके प्रति दुख बुद्धि भी नहीं है, उन्हें कर्म योग करना चाहिए।

जो कर्मों और उनके फल से विरक्त हो गए हैं वे ज्ञान योग की साधना कर सकते हैं।

जो न अत्यंत विरक्त हैं और न अत्यंत आसक्त हैं, किन्तु मेरी लीला कथाओं में श्रद्धा रखते हैं, वे भक्ति योग के अधिकारी हैं, अर्थात् उन्हें भक्ति योग के द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है।

वैसे तो ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं अथवा कोई भी समय नहीं जब हम केवल एक ही साधन करें और दूसरे साधनों का पूर्ण त्याग कर दें। ऐसा संभव ही नहीं है। किन्तु किस साधन की प्रधानता कब हो, यही बताना भगवान का उद्देश्य है।

भगवान ने उद्धव गीता में बताए तो सभी साधन हैं किन्तु उद्धव जी का विशेष आग्रह भक्ति के विषय में ही है और भगवान भी सारे साधनों का वर्णन करते हुए अंत में भक्ति के साधन पर ही आ जाते हैं। भगवान ने पहले तो तीनों योगों की उपयुक्तता मनुष्य की मानसिकता के अनुसार बताई, अब जीवन में उनके क्रम को स्पष्ट करतेहैं –

कर्म के सम्बन्ध में जो विधि निषेध है उसके अनुसार कर्म योग का साधन तब तक करना चाहिए जब तक कर्ममय

संसार से वैराग्य न हो जाए अथवा मेरी लीला कथाओं में श्रद्धा न हो जाए।(११.२०.९)

भगवान ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि कर्म योग की प्रारम्भिक अनिवार्यता सबके लिए है। जन्म से ही जिन्हें संसार से वैराग्य हो ऐसे शुकदेव जी और शंकराचार्य जी जैसे महात्मा तो विरल ही होते हैं, उन्हें तो किसी उपदेश की आवश्यकता ही नहीं। भगवान का उपदेश तो सामान्य संसारी के लिए है। बचपन और युवावस्था में सुख भोग की कामना होती ही है। संसार दुखमय है, ऐसा विचार भी बालक या युवक के मन में नहीं आता। उसके लिए तो संसार कर्म क्षेत्र है जहां अपार संभावनाएं हैं और उसे अपने सपनों को पूरा करना है। कभी किसी के सामने विकट परिस्थितियां आ जाती है तो यह संभावनाओं वाली 'कर्म भूमि' ही उसकी 'रण भूमि' बन जाती है और वह योद्धा की भांति संघर्ष करता है। किसी भी अवस्था में उसे कर्म से च्युत नहीं होना है। अर्जुन को जब भगवान ने गीता का उपदेश दिया, उस समय उसकी यही अवस्था थी। उस समय जब उसने ज्ञान और वैराग्य की बात की तो भगवान ने उसका

अनुमोदन नहीं किया, क्योंकि उसे वास्तव में वैराग्य हुआ नहीं था। वह तो परिस्थिति की विकटता से घबराया हुआ था। उस समय भगवान का उद्देश्य उसे कर्म में लगाना था और उसका उत्साह वर्धन करते हुए उसकी कर्म शक्ति को एक उचित दिशा भी देनी थी। अतः भगवद् गीता सामान्य कर्म को कर्म योग बनाना सिखाती है, अर्थात् कर्म केवल अपने छुद्र स्वार्थ की पूर्ति के उद्देश्य से ही न किए जाएं बल्कि मानवता के कल्याण के लिये हों। इसलिए भगवद्गीता में भगवान ज्ञान, भक्ति और कर्म की सभी बातें बताते हुए भी फिर फिर कर कर्म की अनिवार्यता पर आ जाते हैं। यहां तक कि अठारहवें अध्याय में अर्जुन ने जब विशेष रूप से संन्यास की बात स्पष्ट करने का अनुरोध किया तब भी भगवान ने अनेक मत बताते हुए फिर अपना निर्णय सुनाया कि मेरे मत में कर्म फल का त्याग ही संन्यास है। इस विषय पर उद्धव गीता के परिचय में ही चर्चा की जा चुकी है किंतु यहां प्रसंग के संदर्भ में स्पष्ट समझना है कि कर्म योग सबके लिए एक प्रारम्भिक साधन है जिसके द्वारा चित्त की शुद्धि होती है। कर्म जब सेवा का रूप ले लेता है तो अपनी कामनाओं का

महत्व कम होता जाता है। प्रायः ऐसा होते होते हम जीवन की दूसरी पारी के नजदीक तो पहुंच ही जाते हैं।

अब उद्धव जी को भगवान ने यहां स्पष्ट बताया है कि ऐसे कर्म योगी के चित्त की स्थिति दो प्रकार की हो सकती है, अतः दो विभिन्न मार्ग हैं इसके आगे।

पहली तो यह कि पुरुष को इस कर्ममय संसार से वैराग्य हो जाए। उसके लिए ज्ञान मार्ग अनुकूल है। भगवान कहते हैं कि वह आत्म अनुसंधान करे और अपने मन को मुझ परमात्मा में निश्चल रूप से लगाने का अभ्यास करे। इस मार्ग की अनेक सूक्ष्म बातें बताई। भगवद् गीता में भी ऐसी ही बातें बताई थी – अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। संक्षेप में, दो प्रमुख साधन हैं – वैराग्य और अभ्यास।

अब दूसरे प्रकार के पुरुषों की बात पर आते हैं - जो कर्मों से तो विरक्त हो गए हैं, किन्तु संसार की आसक्ति से विरक्त नहीं हो पाए हैं। भगवान कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति मेरी लीला कथाओं के प्रति श्रद्धालु हो और यह भी जानता हो कि सभी भोग और भोग वासनाएं दुख रूप हैं किन्तु इतना सब जानते हुए भी उनके परित्याग में समर्थ न हो, तो उसे

चाहिए कि उन भोगों को भोग तो ले परन्तु सच्चे हृदय से उन्हें दुख-जनक समझे और मन ही मन उनकी निन्दा करे तथा भोग की वासना को अपना दुर्भाग्य ही समझे । साथ ही इस दुविधा की स्थिति से छुटकारा पाने के लिए श्रद्धा, दृढ निश्चय और प्रेम से मेरा भजन करे ।(११.२०.२७-२८)

भगवान उद्धव जी की प्रार्थना के अनुसार ऐसे ही व्यक्ति के लिए मार्गदर्शन कर रहे हैं 'जो संसार में भीतर बाहर से जल भुन रहे हैं' और 'विषयों के छुद्र सुख भोगों की तृष्णा मिटती नहीं, बढती ही जा रही है', जिस व्यक्ति को भगवन्नाम में भी आनन्द आता है और संसार के भोग में भी । वह कीर्तन में भी थिरकने लगता है और विवाह बारात में भी नाचता है, पर दोनों ही सुख उसे तृप्ति नहीं देते । संसार के थपेडे तो वह खूब खा चुका इसलिए अब उसमें सुख बुद्धि तो रही नहीं, पर इन भोगों का प्रबल अभ्यास पड़ चुका है । कर्म से तो आसक्ति नहीं रही पर कुटुम्ब की आसक्ति बढती जाती है । अपनी संतान के लिए कुछ करने लायक शरीर तो नहीं रहा किंतु मन तो है न । वह शरीर की कमी भी पूरी करता है – पहले से भी अधिक चिंता करने वाला बन जाता है । उनके

लिए वैराग्य और अभ्यास को साधन नहीं बताते, क्योंकि वैराग्य का न होना ही तो उसकी सबसे बड़ी समस्या है । उनके लिए साधन है – प्रयास और प्रार्थना । स्वयं कुछ प्रयास भी करे और प्रयास में असफल रहने पर प्रार्थना करता रहे –

हे नाथ!

राग द्वेष का मल,

मोह का कलुष,

कामनाओं का अंबार,

भरा है मन में मेरे ।

यहां माया का अंधकार है,

और है लोभ और क्रोध की विषैली हवा ।

यह झोपड़ी मंदिर तो नहीं,

किन्तु कन्हैया मेरे!

तुम तो गोविंद हो, गोपाल हो ।

गायों का मलमूत्र, गोष्ठ का कीचड़,

कभी कहां देखा तुमने?

इन्हीं के बीच तुमने

गायों को सहलाया है,

बछड़ों को पुचकारा है।

धूल में लोट कर ही तुमने

गोपियों को मोहा है,

ग्वालों को अपनाया है।

कनूं मेरे!

प्रीत की यह रीत

तुमसे ही जगत् में निसृत हुई।

ऐसी ही प्रीत जगाओ मेरे मन में

कि इसका मल और कलुष,

अन्धकार और दुर्गन्ध

तुम्हें दूर न कर पाए।

तुम आओ

अपनी मोहक मुस्कान लिए

और यहां

प्रकाश भर उठे,

दुर्गन्ध दूर हो जाए,

कलुष नष्ट हो जाए।

तुम्हारे सिवा कौन है दूसरा

जिसे मैं इस गंदगी में

आने का निमंत्रण

देने का साहस कर पाऊं?

तुम्हीं हो कन्हाई, तुम्हीं हो

जो मेरे मन को

मंदिर बना सकते हो।

तुम्हारा ही भरोसा,

तुम्हारी ही आस, तुम्हारा विश्वास,

यही डोर है मेरी।

इसे थामे रहना

मेरे कन्हैया, कन्हैया मेरे।

यह बात मैं नहीं कह रही, यह बात केवल संत नहीं कहते, स्वयं भगवान ने यहां कही है। देखिए भगवान के शब्द-

इस प्रकार मेरे बताए हुए भक्ति योग के द्वारा निरन्तर मेरा भजन करने से **मैं उस साधक के हृदय में आकर बैठ जाता हूं और मेरे विराजमान होते ही उसके हृदय की सारी वासनाएं अपने संस्कारों के साथ नष्ट हो जाती हैं**। उसके हृदय की गांठ टूट जाती हैं, उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और मुझ सर्वात्मा का साक्षात्कार हो जाता है (अर्थात् सभी प्राणियों की आत्मा के रूप में मैं ही हूं, इसका अनुभव होने लगता है)(११.२०.३०)

इसीलिए जो योगी मेरी भक्ति से युक्त, मेरे चिंतन में मगन रहता है उसके लिए ज्ञान अथवा वैराग्य की आवश्यकता नहीं होती। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्ति से ही हो जाता है। कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योगाभ्यास, दान, धर्म और दूसरे कल्याण साधनों से जो कुछ स्वर्ग, मोक्ष, मेरा परम धाम

अथवा कोई भी वस्तु प्राप्त होती है, वह सब मेरा भक्त मेरे भक्ति योग के द्वारा अनायास ही प्राप्त कर लेता है। (११.२०.३१-३३)

बताइये, इससे बड़ा, इससे स्पष्ट आश्वासन और क्या हो सकता है। वे कुंज विहारी, वे बांके विहारी, वे रमण विहारी, वे वृंदावन विहारी तो हमारे हृदय विहारी बनने को उत्सुक हैं, आतुर हैं और प्रतीक्षा कर रहे हैं। बुलाइये उन्हें। इस हृदय में ही वे विहार करेंगे, लीला करेंगे। यहां तो हमारी निर्बलता ही सबसे बड़ा बल है। हम अपनी आसक्ति को नहीं छोड़ सकते, यह काम हमारे लिए भगवान करा देंगे। बस, **लालसा उत्कट हो और पुकार सच्ची हो।** इसीलिए साधन बताए गए - प्रयास और प्रार्थना। प्रयास भी सच्चे न हों तो चलेगा, किन्तु पुकार सच्ची होनी चाहिए, क्योंकि यहां जो कुछ होता है बस उनके किये ही होता है।

मान लीजिए कोई निस्सहाय आपसे बार बार विनती करता है, प्रार्थना करता है, अपनी असहाय अवस्था का रोना रोता है, और आप द्रवित हो कर उसे हजार रुपये दे देते हैं तो क्या यह कहा जा सकता है कि उसे यह धन उसके पुरुषार्थ के

फलस्वरूप मिला? नहीं। उसने तो बस याचना की थी। धन प्राप्ति का हेतु तो देने वाले की कृपा ही है।

एक दूसरा उदाहरण - आपके बगीचे में एक नन्हा बालक पेड़ पर ऊंचे लगे आम के लिए हाथ ऊपर कर उछल रहा है। आम तक पहुंचने का कोई सवाल ही नहीं, किन्तु उसको उछलते देख कर, असफल प्रयास करते करते देख कर क्या आपका हृदय स्नेह से नहीं भर उठेगा? क्या आप स्वयं अपने हाथों से तोड़कर आम उसे देने को विवश नहीं हो जाएंगे? आम उस बालक को अपने प्रयास से मिला कि मालिक की स्नेह भरी कृपा से। बस हमें भी उनकी भक्ति और प्रेम मिलेगा उनकी कृपा से ही। हम बस याचना कर सकते हैं और उछलकूद कर सकते हैं। वे दयामय तो इसी से रीझ जाते हैं।

पम पूज्य श्री सुदर्शन सिंह ‘चक्र ‘जी ने अपने अनुज, अपने लाडले कनूं के विषय में बड़ी मधुर बातें लिखी हैं ‘ श्याम का स्वभाव ‘ और ‘कन्हाई ‘ में। वे कहते हैं कि आप यह क्यों पूछते हैं कि कन्हाई के लिए क्या करना चाहिए? उस अखिल ब्रम्हाण्ड नायक के लिए कोई भी जीव क्या कर

सकता है। क्या सामर्थ्य है आपकी? यदि कुछ कर नहीं सकते तो क्या फर्क पड़ता है - आप मन्त्र पाठ करें या नाम जप करें या डंडा घुमाएं या नाच कूद करें। वे कहते हैं -

'कन्हाई को न क्रिया देखनी न शब्द। इसे तो इतना ही देखना है कि आप इसके लिए **कुछ** कर रहे हैं। कितने प्रेम से, कितनी निष्ठा से कर रहे हैं, इसी में उसकी महत्ता है'।

वह खोजने से नहीं मिलता, वह साधना-उपासना से भी नहीं मिलता, वह तो पुकारने से आता है। हम सबके परम श्रद्धेय स्वामी रामसुख दास जी ने तो बस यही एक मार्ग बताया। पुकारते रहो –'हे नाथ मैं आपको कभी नहीं भूलूं'। उनकी ही वाणी में इस पुकार के सुंदर वीडियो यू ट्यूब पर उपलब्ध हैं।

भगवान ने अपने इसी स्वभाव की बात कही है यहां। वे जानते हैं कि माया मोह की बेड़ी में जकड़ा जीव अपने बल पर तो कुछ नहीं कर सकता। इसलिए स्पष्ट किया –'जो मेरे चिंतन में मगन रहता है उसके लिए ज्ञान अथवा वैराग्य की आवश्यकता नहीं है। मैं स्वयं ही उसके हृदय में आकर बैठ जाता हूं और मेरे विराजमान होते ही उसके हृदय की सारी

वासनाएं अपने संस्कारों के साथ नष्ट हो जाती हैं और वह मुझसे मिल कर मेरा स्वरूप हो जाता है।'

भगवान के ये शब्द कितना गहरा आश्वासन देते हैं हम सबको। किसी को लगता है कि मैं तो विशेष पढा लिखा नहीं हूं, शास्त्रों का अध्ययन करने की क्षमता नहीं है, मेरा उद्धार कैसे संभव है? भगवान ने कह दिया कि इसकी आवश्यकता ही नहीं है। बस संतों की वाणियों के संग से श्रद्धा जाग जाए और वह श्रद्धा लालसा का रूप ले ले तो उसका उद्धार मेरी जिम्मेदारी है।

यदि किसी को लगता है कि अभी भी माया के अन्ध कूप में पड़ा हूं, तो उसके हृदय में आ कर विराजमान होने को भी वे तत्पर हैं। ऐसे दयालु स्वामी को छोड़कर किसकी शरण में जाया जाए? शुकदेव जी ने विष देने वाली पूतना का उद्धार कर उसे माता की गति देने वाले भगवान श्रीकृष्ण की कथा सुनाकर अंत में यही कहा – कं वा दयालु शरणं व्रजेम।

हम अल्प मति, अल्प गति, हममें तो उनसे प्रेम करने की सामर्थ्य भी कहां है? उनके प्रेम को पहचान पाएं, यही बहुत

है। यही हमारे चित्त को द्रवित कर देगा । भगवान ने अर्जुन और उद्धव जी के माध्यम से कह कर भी बताया है और अपनी लीलाओं के माध्यम से कर कर भी समझाया है ।

जो संसार के प्रति आसक्त है वही तो आसक्ति की बात समझ सकता है । कुछ लोग स्वभाव से ही प्रेम-प्यार से विहीन, रूखे सूखे से होते हैं । कुछ इतने स्वार्थी होते हैं कि उनके चित्त में किसी दूसरे के लिए कोई मधुर भाव आता ही नहीं । भगवान भी ऐसे लोगों के प्रति उदासीन ही हैं, उन्हें तो बस उसी से प्रेम की अपेक्षा है जो समझता है कि प्रेम क्या होता है। वह जानता है प्रेम करना । उसके प्रेम की तो बस दिशा बदलने की आवश्यकता है । चक्र जी लिखते हैं कि आप के मन में अनेकों ने स्थान बना रखा है, कुछ स्थान इस नन्द के कुमार को भी दीजिये । एक बार चित्त में प्रवेश पा गया तो फैलना इसे खूब आता है ।

हमारा स्वभाव है आसक्ति, और आसक्ति का स्वभाव है चिंतन, प्रगाढ़ चिंतन । जिससे आसक्ति होती है उसके चिंतन के लिए कोई ‘साधना’, प्रयास, अभ्यास की आवश्यकता

नहीं होती । हमारे ये ठाकुर ऐसी ही आसक्ति चाहते हैं और इसके लिए स्वयं ही सब कुछ करने को भी तैयार हैं ।

त्रेता युग में ये ही तो थे। अपने छोटे भैया लक्ष्मण को ज्ञान, वैराग्य, माया आदि के विषय में बताने के बाद एक वाक्य कहा था –

जाते बेगि द्रवऊं मैं भाई, सो मम भगति भगत सुखदाई ।

यहां भी श्रोता उनके भैया ही हैं । पर ये हैं ऐसे कि बार बार उन्हें विनम्रता पूर्वक टोक देते हैं और कहते हैं - हे प्रभो, हे विश्वात्मन्, मैं तो संसार के अन्ध कूप में पड़ा हुआ, कुटुम्ब की आसक्ति में पड़ा हुआ जीव हूं, आप मुझे अच्छी तरह समझा कर इस प्रकार बताइये जिससे इस मायाबद्ध जीव का कल्याण हो । बस वे करुणामय द्रवित हो जाते हैं । इतनी स्पष्टता और विस्तार से तो इस विषय को भगवान ने उद्धव गीता में ही कहा है, इसका हेतु उद्धव जी की यह दीनता भरी प्रार्थना ही है ।

प्रभु को द्रवित कर दे, ऐसा दैन्य तो बस बाबा तुलसी का संग ही दे सकता है । विनय पत्रिका में गाया है-

ऐसो को उदार जग माहीं।

बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोऊ नाहीं ।।

द्रवित होकर भगवान ने जो जो कहा उसका कुछ अंश अब तक सुना, अभी तो और भी सुनना बाकी है।

इस अध्याय के अंत में भगवान ने भक्ति की सिद्धावस्था का वर्णन किया है जिसे हम भागवत धर्म के अन्तर्गत देख चुके हैं। और भी आगे देखेंगे।

भगवान कहते हैं – उद्धव, मेरे अनन्य प्रेमी भक्त स्वयं तो कुछ चाहते नहीं, मैं देना चाहता हूं, तब भी दूसरी वस्तुओं की तो बात ही क्या, वे कैवल्य मोक्ष तक नहीं लेना चाहते। यही सर्वश्रेष्ठ और परम कल्याण है।

***

श्री कृष्ण शरणं मम

उद्धव गीता

सिद्धियों का वर्णन

जब हम साधु संतों का संग करने की बात सोचने लगते हैं तो एक बड़ा विकट प्रश्न कई बार सामने आ जाता है। हमें देखने या सुनने को अनेक चमत्कारी बाबा मिलते हैं। हममें से कुछ तो चमत्कारों को ही नमस्कार करते हुए ऐसे बाबाओं के अन्ध भक्त बन जाते हैं और कुछ इन्हें ढोंग और पाखंड मानते हुए 'साधु' शब्द से ही चिढने लगते हैं। क्या है यथार्थ? इस विषय में पन्द्रहवें अध्याय में भगवान ने जो बताया है वह बहुत ही उपयोगी है भक्ति के पथ पर चलने वालों के लिए।

ये सिद्धियां योग साधनाओं से प्राप्त होती हैं। भगवान कहते हैं कि जब योगी इन्द्रिय, प्राण और मन को वश में मेरी धारणा करने लगता है तो उसके सामने बहुत सी सिद्धियां उपस्थित होने लगती हैं।

उद्धव जी की जिज्ञासा पर भगवान ने अठारह प्रकार की सिद्धियों के नाम भी बताए और यह भी बताया कि किस धारणा से कौन सी सिद्धि प्राप्त होती है।

हमारा उद्देश्य तो उन भगवान श्रीकृष्ण के मुख से वास्तविकता को जानना है जो स्वयं योगीश्वर हैं और इन सिद्धियों को देने वाले हैं, अतः हम सबके विस्तार में न जाते हुए बस नमूने के तौर पर एक दो को देखते हुए भगवान के संदेश को जानने का प्रयत्न करेंगे।

भगवान कहते हैं कि पंचभूतों की सूक्ष्मतम मात्राएं मेरा ही शरीर है। जो साधक केवल मेरे उसी शरीर की उपासना करता है, अर्थात् मेरे तन्मात्रात्मक शरीर के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु का चिंतन नहीं करता, उसे 'अणिमा' नाम की सिद्धि अर्थात् पत्थर की चट्टानों में भी प्रवेश करने की शक्ति - अणुता प्राप्त हो जाती है। (११.१५.१०)

जो योगी नेत्रों को सूर्य में और सूर्य को नेत्रों में संयुक्त कर देता है और दोनों के संयोग में मन ही मन मेरा ध्यान करता है, उसकी दृष्टि सूक्ष्म हो जाती है। उसे दूरदर्शन नाम की सिद्धि

प्राप्त होती है और वह सारे संसार को देख सकता है।(११.१५.२०)

इस प्रकार अठारह प्रकार की सिद्धियों के नाम और संक्षिप्त परिचय के बाद भगवान उपसंहार करते हैं – प्रिय उद्धव, जिसने अपने प्राण, मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है, जो संयमी है और मेरे ही स्वरूप की धारणा कर रहा है, उसके लिए ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं, जो दुर्लभ हो । उसे तो सभी सिद्धियां प्राप्त ही हैं। (११.१५.३२)

परन्तु श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं कि जो लोग भक्ति योग और ज्ञान योग आदि उत्तम योगों का अभ्यास करते हैं, उनके लिए इन सिद्धियों का प्राप्त होना एक विघ्न ही है, क्योंकि इनके कारण व्यर्थ ही उनके समय का दुरुपयोग होता है।(११.१५.३३)

जगत् में जन्म, औषधि, तपस्या और मन्त्र आदि के द्वारा जितनी सिद्धियां प्राप्त होती है, वे सब योग से मिल जाती हैं परन्तु योग की अंतिम सीमा बिना मुझमें चित्त लगाए किसी भी साधन से नहीं प्राप्त हो सकती । समस्त सिद्धियों का एकमात्र हेतु, स्वामी और प्रभु मैं ही हूं ।(११.१५.३४-३५)

इस प्रकार भगवान ने सिद्धियों का वर्णन भी कर दिया और उनका अवमूल्यन कर एक बार फिर भक्ति साधना को ही सर्वोपरि स्थान दे दिया। सिद्धियों को समय का दुरुपयोग बताया, विघ्न बताया और यह बताया कि भक्त को सिद्धियां अपने आप मिल जाती हैं परन्तु भक्त उन्हें महत्व नहीं देता।

इस विषय पर दो तीन उदाहरण हैं। एक तो संत ज्ञानेश्वर की कथा है। वे भक्त थे और अनेक सिद्धियां उन्हें अनायास ही प्राप्त थी, जैसा भगवान यहां कह रहे हैं। कथा प्रसिद्ध है कि उस काल में चांगदेव जी अनेक योग सिद्धियों के स्वामी थे। योग बल से वे चौदह सौ साल की आयु प्राप्त कर चुके थे और उनके हजारों शिष्य थे। संत ज्ञानेश्वर तो उस समय बालक ही थे। चांगदेव जी का अहंकार उनकी ख्याति को स्वीकार नहीं कर पाया। अपनी योग सिद्धि का सिक्का जमाने के लिए वे बाघ पर सवार हो कर ज्ञानेश्वर जी से मिलने चले। बालक ज्ञानेश्वर उस समय एक चबूतरे पर बैठे थे। चांगदेव जी के स्वागत के लिये उन्हें आगे बढना था तो उन्होंने उस चबूतरे को ही आदेश दिया और चबूतरा उन्हें बैठाए हुए ही आगे चल पड़ा। चांगदेव जी का अहंकार

विगलित हो गया और उन्होंने चरणों में गिर कर ज्ञानेश्वर जी को प्रणाम किया और उनके शिष्य बने । संत ज्ञानेश्वर जी ने उन्हें अध्यात्म की शिक्षा दी ।

आदि शंकराचार्य जी के जीवन चरित्र में भी पढने को मिलता है कि किसी विशेष परिस्थिति में उन्होंने पर काया प्रवेश की सिद्धि का उपयोग किया था । उनके शिष्यों ने उनके शरीर को एक गुफा में सुरक्षित रखा था । प्रयोजन पूरा होने पर पुनः उन्होंने अपने उसी शरीर में प्रवेश किया और पहले की भांति अपना कार्य जारी रखा ।

परम पूज्य स्वामी अखंडानन्द जी गुरुदेव थे उड़िया बाबा । उन्हें भी अनेक सिद्धियां प्राप्त थीं । महाराज श्री ने उनके विषय में 'पावन प्रसंग' में लिखा है –

"शिक्षा समाप्त कर आर्त्तत्राण जी (उड़िया बाबा के पूर्वाश्रम का नाम) घर लौटे । पैतृक वृत्ति करते हुए भी इनका मन भक्ति, वैराग्य और योग की ओर खिंचता जा रहा था। तभी उड़ीसा में भयंकर अकाल पड़ा । वे दुखियों के त्राण-कार्य में जुट गए , परन्तु जब उन्होंने देखा कि मैं प्रयत्न करके भी कोई ठोस सेवा नहीं कर पा रहा हूं तो उनका चित्त अत्यंत

व्यथित हो उठा । सोचते सोचते उन्हें लगा कि द्रौपदी की बटलोई जैसा अन्न देने वाला कोई अक्षय पात्र प्राप्त करूं जिससे सबको निरन्तर खिलाया जा सके । सोचा कि जगज्जननी का अनुष्ठान करके ऐसा पात्र पाया जा सकता है । कामाख्या पहुंच नवदुर्गा का अनुष्ठान प्रारम्भ कर दिया । अनुष्ठान ठीक चलने लगा । स्वप्न में देवी के दर्शन भी हुए । तभी एक दिन एक महात्मा से विवेक चूड़ामणि सुनने का अवसर मिला । सुनकर लगा कि देवी ने ऐसा पात्र दे भी दिया तो क्या होगा? कितने लोग अन्न लेने मेरे पास आ सकेंगे? मैं भी कोई अमर तो रहने वाला हूं नहीं । इसके अलावा क्या केवल अन्न पाकर ही लोगों के सारे दुख दूर हो जाएंगे? यह सकाम अनुष्ठानठीक नहीं । मुझे तो सारी कामनाएं त्याग कर जगदम्बा का भजन करना चाहिए ।

इस अनुष्ठान से उनके चित्त में भक्ति और वैराग्य बढता जा रहा था । बहुत समय बीता । उन्होंने नैष्ठिक ब्रम्हचर्य की दीक्षा भी ले ली । माया में लिप्त न होकर जप, अनुष्ठान और उपासना में पूर्ववत् लगे रहे । शतचण्डी अनुष्ठान किया । उससे आपको वाक्-सिद्धि प्राप्त हुई और पर-चित्त ज्ञान होने

लगा । इससे उनके चित्त में बड़ा विक्षेप रहने लगा । जो व्यक्ति सामने आता उसके चित्त के दोष स्पष्ट दीखते । अठारह दिनों में इस सिद्धि से जी ऊब उठा । मां से प्रार्थना की कि इस विक्षेप से मुक्त करो । मां की कृपा से ही मुक्ति मिली"।

भगवान ने यहां जो कहा है वह साक्षात् महात्माओं के चरित्र में देखने को मिलता है, इसीलिए भगवान ने संतों की इतनी महिमा गाई है ।

कन्हाई को अपना अनुज मान कर दुलारने वाले चक्र जी भी एक बार किसी के चक्कर में पड़ गए । उससे निर्देश प्राप्त कर अपने कमरे में दीपक जला कर त्राटक करने लगे । कुछ दिनों में दीवार पर एक छाया उभरने लगी थी, गहराने भी लगी थी पर सिद्धि के पहले ही उनके कनूं ने घोषणा कर दी - 'दादा, या तो मैं रहूंगा या ये रहेगा' । एक क्षण भी विलम्ब किये बिना चक्र जी ने दीपक बाहर फेंक दिया ।

एक और प्रेरणादायी कथा है स्वामी राम की । बहुत पहले धर्मयुग पत्रिका आती थी । उसमें इनके विषय में एक लेख था कि जर्मनी की किसी वैज्ञानिक संस्था ने इन्हें कोई

बड़ी उपाधि दी है। चित्र में भी वे असाधारण महात्मा जान पड़ते थे। उनके विषय में लिखा था कि किसी सिद्ध महात्मा के आशीर्वाद से ही आपका जन्म हुआ था और वे महापुरुष बचपन में ही इन्हें लेकर हिमालय में चले आए। उनके अनुशासन में ही आप बड़े हो रहे थे। हिमालय में रहते हुए इनका सम्पर्क अनेक सिद्ध पुरुषों के साथ हुआ। अपने ये अनुभव इन्होंने 'Living With Himalayan Masters' नामक पुस्तक में लिखे हैं।

मुझे बड़ा कुतूहल हुआ और मैंने देहरादून स्थित उनके संस्थान से मंगा कर यह पुस्तक पढी। अद्भुत थी इनकी बातें।

इनके गुरु तो बड़े ही सिद्ध महात्मा थे और किसी चमत्कारी सिद्धि को महत्व नहीं देते, पर विचरण करते हुए दूसरे सिद्ध पुरुष आते ही रहते थे। उनके चमत्कारों से ये प्रभावित हो जाते। बालबुद्धि थी, अतः गुरुदेव को उलाहना देने लगते कि आप मुझे कुछ नहीं सिखाते, मैं तो इनके साथ जाता हूं। गुरुदेव मुस्कुरा देते और ये चल पड़ते। इस प्रकार अनेक सिद्धियों की प्राप्ति और लौट कर गुरु के पास आने पर उनकी निरर्थकता का ज्ञान - ऐसे ही बहुत सारे प्रसंग थे उसमें

। लंदन के सेवॅय होटल से खाना मंगाने का भी चमत्कार सीखा । हर अध्याय में एक एक सिद्धि, और अंतिम पैरा में उनका उपसंहार पढने लायक है । एक मुझे अभी भी ठीक से याद है कि एक सिद्ध पुरुष को मुख से आग निकालते देख कर उसके साथ चल पड़े और छः वर्ष की साधना से यह विद्या प्राप्त कर ली । प्रसन्न होकर लौटे और गुरु के सामने प्रदर्शन किया तो उन्होंने कहा – जो काम एक माचिस की तीली से एक क्षण में हो सकता है उसे सीखने के लिए तुमने अपने बहुमूल्य जीवन के छः वर्ष गंवा दिये । कौन सी बुद्धिमानी है?

इस प्रकार सिद्धि प्राप्त करने के बाद कोई स्वयं इन सिद्धियों को निरर्थक और समय का दुरुपयोग बताता है तो उसका प्रभाव भगवान के शब्दों से भी अधिक होता है । इसीलिए तो भगवान कहते हैं – मो ते अधिक संत करि लेखा । भगवान जो कहते हैं, संत अपने जीवन में उसे प्रमाणित कर के दिखा देते हैं । ऐसे सभी संत चरणों में बारम्बार वंदन ।

***

श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

परम संत, परम योग, परम रस

उद्धव गीता तो विशेष रूप से भक्ति का ही गीत है । भगवान कैसी भक्ति चाहते हैं, कैसा भक्त चाहते हैं और अपने प्यारे भक्त को क्या क्या देते है – यह सब तो बताते ही हैं, ऐसी भक्ति प्राप्त कैसे हो, इसके उपाय भी बताते हैं।

'भक्ति के साधन' अध्याय में हमने देखा भगवान को यह कहते हुए कि उद्धव, जो मेरी भक्ति करना चाहता है वह मेरी मूर्ति और मेरे भक्त जनों का दर्शन, स्पर्श, पूजा, सेवा करे । मेरे गुण तथा कर्मों का कीर्तन करे, कथा सुने, मेरा स्मरण करता रहे। जो कुछ उसे मिले उसे मुझे समर्पित कर दे, केवल

पदार्थ ही नहीं, अपने कर्मों को और अपने आप को भी समर्पित कर दे। मेरे जन्म आदि के उत्सव मनाए, तीर्थ यात्रा करे, विविध उपहारों से मेरी पूजा करे... इत्यादि।

हमने यह भी देखा कि संत इन्हें वित्तजा और तनुजा सेवा का नाम देते हैं, और फिर मानसी सेवा की बात कहते हैं जिससे प्रेम स्वरूपा, रस रूपा भक्ति की प्राप्ति होती है। हमारे इस अध्याय का विषय यही है।

भक्ति के इन साधनों से भक्ति का उदय होता है, पर प्रेम के रस की प्राप्ति तो कुछ और ही विलक्षण वस्तु है। प्रेम स्वरूपा भक्ति के बारे में भगवान ने वहीं पर कहा था – जो सब ओर से बेपरवाह होकर केवल मुझसे प्रेम करता है, मैं उसके हृदय में परम आनन्द के रूप में स्फुरित होने लगता हूं। वह मेरे सान्निध्य का अनुभव करता हुआ सदा सर्वदा संतोष का अनुभव करता है और उसके लिए आकाश का एक एक कोना आनन्द से भरा हुआ है।

यानि पहले तो भक्ति के प्रारम्भ की बात बताई और फिर उसकी परम उपलब्धि बताई - आकाश का एक एक कोना आनन्द से भरा हुआ - मन में बड़ा लोभ जागता है।

भगवान ने जो प्रारम्भिक साधन बताए - कथा, कीर्तन, पूजा, उत्सव, तीर्थ यात्रा आदि, वे तो हमें करते बहुत काल बीत गया पर यह जो कहा – आकाश का एक एक कोना आनन्द से भरा हुआ – ऐसी तो कुछ झलक भी नहीं मिली। मन में तो वैसी ही खीज, वैसी ही झुंझलाहट, वैसी ही किच् किच्, वैसा ही तू-तेरा, मैं-मेरा; फिर सुनने को मिलता है कि क्या यही लाभ हुआ इतने पूजा-पाठ का, तो पारा सातवें आसमान पर!

क्या भगवान ने यूं ही फुसलाने के लिए कह दिया? या हमसे कोई चूक हो रही है? हमें तो यही मान कर चलना होगा कि चूक हमारी साधना में ही है।

हां, हमने इन शब्दों को अनदेखा कर दिया है – जो **केवल मुझसे प्रेम** करता है ......

हम पूजा करते रहे, कथा सुनते रहे, किन्तु प्रेम नहीं कर पाए। वैसे देखा जाए तो कुछ प्रेम भी है तो अवश्य, नहीं तो विग्रह की सेवा इत्यादि इतने वर्षों से होती नहीं। कुछ न कुछ रसानुभूति भी होती तो अवश्य है, तभी तो हम बार बार सत्संग करते हैं, कीर्तन करते हैं, पर यह अनुभूति स्थिर नहीं

रह पाती । कथा कीर्तन में व्यास जी भाव से कथा कहते हैं, भाव से प्रभु के गुणों का कीर्तन करते हैं, तो उनके भाव और उनकी वाणी के प्रभाव से हमारा मन भी भक्ति रस से भीगा भीगा सा हो जाता है। यह स्थिर रहे, हमारे स्वभाव में आ जाए - ऐसा लक्ष्य हो तब आगे बढा जाता है । यह लक्ष्य तो परम रसमय है ही, इसका पथ भी इतना रसीला और सुखदायी है कि पहुचने की भी जल्दी नहीं रहती । पहले पहले प्रयास करना होगा, फिर यह सहज हो जाएगा । प्रतिदिन की उपासना करते हुए ‘रस’ मिले, बस इसी के लिए कुछ प्रयास करना होता है । भगवान ने उद्धव जी के पूछने पर सत्ताइसवें अध्याय में ‘क्रियायोग’ के अन्तर्गत पूजा अर्चना की सम्पूर्ण प्रक्रिया का भी वर्णन किया है । वहां भी सारी क्रिया के बाद कहा – यह सब करते हुए कुछ समय के लिए संसार और उसके रगड़ों झगड़ों को भूल कर मुझमें ही तन्मय हो जाए। (११.२७.४४)

स्पष्ट है कि हाथों और वाणी द्वारा की जाने वाली ‘पूजा’ की पूर्णाहुति मन की तन्मयता में होनी चाहिए।

यहां एक बार स्वयं ध्यान कर लें कि हमारी नित्य पूजा के अंत तक हमारा मन कहां जाता है।

भगवान की सेवा में धन लगाएंगे तो धन की शुद्धि होगी। वाणी से उनके गुणों का कीर्तन करेंगे तो वाणी पवित्र होगी। कानों को कथा श्रवण का अवसर मिला तो कान धन्य होंगे, पर विचार कीजिए कि रस किसे चाहिए - मन को। तब साधना में किसे लगाना होगा – मन को। बात जब बनेगी इसी से बनेगी।

भगवद्गीता में और उद्धव गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण बार बार इन शब्दों का प्रयोग करते हैं –'मन्मना भव' अर्थात् मन को मेरी ओर कर, 'मयि एव मन आधत्स्व' अर्थात् मन को मुझमें **ही** लगा। त्रेता युग में भी ये ही तो थे। रामावतार में कहा – सनमुख होहि जीव मोहि जबहिं, जन्म कोटि अघ नासहुं तबहिं। ये 'अघ' अर्थात् पाप कहां है – मन में। सनमुख किसे होना पड़ेगा – मन को। संक्षेप में - मन को रस चाहिए तो मन को भगवान के सन्मुख होना होगा। हमने तो अपने मन के कतरे कतरे को इतने 'अपनों' में, इतने 'निज जनों' में, इतने संबन्धों में बांट रखा है कि 'सन्मुख' होने के

लिए कोई हिस्सा बचा ही नहीं। ठाकुर जी प्रतीक्षा कर रहे हैं कि इस जीव का मन कब मेरे सन्मुख हो और मुझे इसके जन्म जन्मांतरों के पापों के नाश का अवसर मिले। हम जब 'पूजा' करते हैं तो शायद एक एक पुष्प अर्पित करते देख वे सोचते होंगे – अब आया यह जीव, अब आया। पर युग युग बीत गए, जनम जनम बीत गये, भगवान की प्रतीक्षा पूरी ही नहीं हो रही है।

विचार करें कि हम जो आधे या एक घंटे नित्य साधन-भजन, उपासना-सेवा इत्यादि करते हैं उसमें शरीर कितना लगता है और मन कितना। बस, जिस अनुपात में मन लगता है, उसी अनुपात में मन को प्रेम रस मिल पाता है। यदि इतने ही भक्ति भाव हम संतुष्ट हैं तो कोई बात नहीं, पर भगवान की उद्धव जी को कही गई बातों से लोभ जाग गया और हमें यदि यह परम लाभ चाहिए तो कुछ सुधार की आवश्यकता है। मानसी साधना के विषय में प्रवेश करने के पहले हम कुछ ऐसी गड़बड़ियों को ठीक कर लें।

मन नहीं लगता तो हम नियम ले लेते हैं अधिक देर माला जपने का, पाठ करने का और आशा करते हैं कि इतनी

देर में कभी तो मन लगेगा, भगवान की कृपा होगी। यदि हम अपने गंतव्य की ओर सही दिशा में चलना प्रारम्भ करते हैं तभी पहुंच सकते, पर हम तो उलटी दिशा में चलने लगेंगे तो मंजिल तक पहुंचेंगे कैसे?

अवधूत दत्तात्रेय जी ने कहा था कि हमें ऐसी अन्तर्दृष्टि जागृत करनी चाहिए जिससे हम अपने आसपास की वस्तुओं और घटनाओं से सीख सकें। हमारा सबसे अच्छा शिक्षालय तो हमारा घर ही है। ऐसा प्रायः देखने में आता है कि जिनके घर में ठाकुर सेवा है वे स्वाभाविक रूप से अपने बच्चों में भी कुछ संस्कार डालना चाहते हैं। हम कहते हैं - देखो, कान्हां जी तुम्हें खोज रहे हैं। तुम आज सुबह उठने के बाद उनसे मिले नहीं, प्रणाम नहीं किया। बच्चा सौरी सौरी कहता हुआ आंखें बन्द कर बस कुछ क्षण के लिए कान्हां जी के सामने बैठता है और फिर खेल में लग जाता है। धीरे धीरे उसका स्वयं का मन करने लगता है और उसे स्वयं ही लगने लगता है कि कान्हां जी उसकी प्रतीक्षा करते हैं। किसी ने मुझे बताया कि हमारी सास तो बहुत सुबह ही पूजा में बैठ जाती थी और बच्चे स्कूल जाने से पहले ठाकुर जी

को प्रणाम कर उनसे चरणामृत लेते थे। अब वे रही नहीं और हमलोग तो बच्चों को तैयार कर स्कूल भेजने के बाद ही ठाकुर सेवा कर पाते हैं। बच्चे चरणामृत लेना चाहते हैं, जिद करते हैं, हम क्या करें?

एक दादीमां ने बताया कि उनका पोता हर वस्तु को कान्हां जी को खिला कर ही खाना चाहता है। अपनी चाकलेट भी बिना उनको अर्पित किये नहीं खाता। इस प्रकार जब चर्चा चलती है तो बच्चों के प्यार की बड़ी प्यारी प्यारी बातें सुनने मिलती हैं। मन प्रसन्न हो जाता है।

एक दादीमां ने कहा कि आजकल मैं सुबह चार बजे उठ कर माला फेरती हूं, किसी दिन तो ठाकुर जी कृपा करेंगे और कभी एक नाम हृदय से निकलेगा।

इन दादीमां की आस्था को भी प्रणाम है। अनेक संत संख्या और नियम पूर्वक जप करने की अनुशंसा करते हैं और इस सत्य को कोई नहीं झुठला सकता कि प्रभु के नाम में ही सबसे बड़ी सामर्थ्य है। किन्तु कुछ संत ऐसे भी हैं जो यह कहते हैं कि गिनती गिन कर लेन देन तो व्यापार में होता है, प्रेम में नहीं। सभी संतों के सभी मत सही हैं क्योंकि अनेक

लोगों के मन को किसी एक तरीके से साधा नहीं जा सकता। हमें अपने मन को प्रभु के सन्मुख करने की विधि स्वयं तलाशनी होगी।

क्यों न हम इन बच्चों की बातों से ही सीखें। कान्हां जी के प्रेम में भीगे हैं इनके सरल बाल मन, जो कि स्वभाव से अतिशय चंचल है। यदि इन्हें कहा जाए कि तुम पांच मिनट बैठ कर स्तुति करो, तो क्या इनका मन उतनी देर एकाग्र होगा? नहीं। और यदि बंधन लगा दिया जाए तो यह क्षण भर के लिए जाग्रत होने वाला प्रेम टिक पाएगा? नहीं। बहुत जबर्दस्ती की गई तो वह बैठ तो जाएगा पर चिंतन अपने खिलौनों और साथियों का ही करेगा। यह बहुत ही स्वाभाविक है। स्पष्ट है कि प्रेम रस की अनुभूति नहीं हो रही तो पूजा, उपासना, मंत्र जाप, स्तोत्र पाठ आदि का समय बढाना हमारी मदद नहीं कर सकता। हम बड़े हो गए तो क्या हुआ, मन तो हमारा बच्चों जैसा ही चंचल है। पाना चाहते है जीवन का वह परम रस तो इस चंचल मन को साधने के लिए कोई तरकीब तो लगानी ही होगी। इन बच्चों की लीलाओं से ही कुछ सीख ले लें।

चंचल मन बार बार तो जा सकता है, लेकिन ज्यादा देर ठहर नहीं सकता। नियम में तो बिलकुल भी नहीं बंधा रह सकता। पर एक क्षण का ठहराव भी रस की अनुभूति कराएगा तो धीरे धीरे मन उस परम रस का लोभी हो जाएगा। धीरे धीरे हमारा एक एक पग बढेगा।

महाराज श्री अखण्डानन्द जी एक दृष्टांत देते थे – मान लीजिए कि आप अपने मित्र को अपना एक घोड़ा देना चाहते हैं। आप उस घोड़े को वहां छोड़ आते हैं। वह घोड़ा वहां रहेगा नहीं। किसी न किसी प्रकार बंधन छुड़ा कर आपके घर आ जाएगा क्योंकि वहीं रहने की उसकी आदत बनी हुई है। पर आप सचमुच देना चाहते हैं तो दूसरे दिन फिर उसे मित्र के घर छोड़ना होगा। आपका मित्र उसे सहलाएगा, पुचकारेगा, लेकिन वह घोड़ा फिर किसी न किसी प्रकार बंधन छुड़ा कर आपके घर आ खड़ा होगा। पर बार बार ऐसा होने से धीरे धीरे उसे वहां रहने का अभ्यास हो जाएगा और वह टिक जाएगा।

उद्धव गीता में भी भगवान कृष्ण ने मन को घोड़े की उपमा दी है जो बड़ा बलशाली भी है और दुर्जय भी। इस पर

सवारी करना हो तो साधक इसकी एक एक चाल, एक एक हरकत को ध्यान से देखता रहे। इसके स्वभाव को समझ कर बड़ी चतुराई से भिन्न भिन्न तरकीबें लगा कर इसे अपने वश में करना चाहिए। मानसी साधना के पहले ऐसी कुछ तरकीबें आजमा लें। तभी अगले विषय में प्रवेश हो पाएगा।

जैसे हमने बच्चों से सीखा कि चंचल मन बार बार तो जा सकता है पर अधिक देर टिक नहीं सकता। इस समझ के आधार पर कुछ तरकीब निकालनी होगी। महाराज श्री की वाणी से एक बात समझी कि घोड़े को बार बार प्रभु के चरणों में भेजना होगा।

अब एक और बात हम सबके अनुभव की है कि मन को नियम तो बिलकुल भी पसन्द नहीं। हम अपनी रोजमर्रा की रुटीन लाइफ से कितना बोर हो जाते हैं? फिर कुछ 'चेंज' चाहिए। छुट्टी के दिन सारे नियमों को तोड़ कर जीते हैं तो मन 'चार्ज' हो जाता है।

लेकिन गुरु जनों से जो कुछ नियम कायदे जाने हैं, उन नियमों के विरुद्ध जा कर उपासना करना तो पाप का भय पैदा करता है, हमारी बुद्धि स्वीकार नहीं कर पाती। तो चलिए

देख लेते हैं कि हमारे ठाकुर जी क्या कहते है? अर्जुन को तो एक ही वाक्य में बताया था – सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। इस विषय में उद्धव जी को विस्तार से बताया है। ये बातें कई अलग-अलग की स्थानों पर कही गई हैं, हम बस दो तीन ही देख लें।

जो पुरुष मेरी शरण में हैं उसे वैसे ही कर्म करने चाहिए जो उसे अन्तर्मुख कर दे। जब आत्म ज्ञान की उत्कट इच्छा जाग उठे तो कर्म संबंधी विधि विधानों का आदर करने की भी आवश्यकता नहीं है। (११.१०.४)

मैंने ही वेद और शास्त्रों के रूप में मनुष्यों को धर्म का उपदेश किया है, पर मेरा जो भक्त उन्हें भी अपने ध्यान आदि में विक्षेप समझ कर त्याग देता है और केवल मेरे ही भजन में लगा रहता है वह **परम संत** है।(११.११.३२)

जब स्थिर करते समय मन चंचल हो कर इधर उधर भटकने लगे तब बड़ी सावधानी से उसे मना कर समझा बुझा कर, फुसला कर अपने वश में कर ले। मन की एक एक चाल, एक एक हरकत को ध्यान से देखता रहे। मन को

फुसला कर, उसे मीठी मीठी बातें सुना कर वश में कर लेना **परम योग** है। (११.२०.२१)

संक्षेप में – **परम संत को परम योग के द्वारा इस परम रस की प्राप्ति होती है।** भगवान का कैसा अनुपम वात्सल्य है हम दुर्बल भक्तों के प्रति! जैसे नटखट बालक ने जरा सा कुछ अच्छा काम किया तो माता-पिता कहते हैं, अरे वाह! तुम तो संसार के सबसे अच्छे बच्चे हो। वैसे ही ये परमपिता जब देखते हैं कि बालक अपनी ओर से कुछ प्रयत्न कर रहा है तो कहते हैं – तुम तो परम संत हो। प्रयत्न किस बात का? उनके भजन में यदि धार्मिक विधि विधान भी बाधक बनें, तो उन्हें भी त्याग देने का। भगवान की नजर इन विधि विधान का पालन करने या न करने पर नहीं है, उनके भजन में एकनिष्ठ होने की अभिलाषा और तत्परता पर है। जब वे ऐसे ममतामय हैं तो क्यों न हम अपने मन को उनका बालक बना दें। आगे बढने से पहले जरा ठहर कर इस भाव में मन लगाएं। मन अभी का अभी रस से भर उठेगा।

एक और अद्भुत भाव देखें। परम संत की परिभाषा बताने के बाद **परम योग** भी बताया है। अनेक प्रकार के

योग विभिन्न ग्रंथों में बताए गए हैं - अष्टांग योग, हठ योग, कुण्डलिनी योग, क्रिया योग, ध्यान योग इत्यादि, किन्तु 'परम योग' तो भगवान ने खास हमारे लिए उद्धव जी को ही बताया है । परम योग यानि सभी योगों में सर्वश्रेष्ठ योग । देखिये क्या कहते हैं - भटकते हुए मन को बहला फुसला कर वश में करने और भगवान के चरण कमलों में लगाने का प्रयत्न ही परम योग है। यहां विधि को पालन न करने की सलाह नहीं दी गई है, पर भाव को प्रधानता देने का आग्रह है।

दूसरे शब्दों में कहें तो उपासना के समय नियम के बदले **भाव पर ध्यान देना ही परम योग है।**

सबसे मजे की बात तो यह है कि यदि भगवान स्वयं ही ऐसा कह रहे हैं तो इस परम योग के अधिकारी तो हम संसार और परिवार में फंसे गृहस्थ ही हैं, क्योंकि हमें अपने बच्चों को बहलाना फुसलाना बहुत अच्छा आता है। अपनी इसी विशेष प्रतिभा का उपयोग अपने बालक के समान मन के साथ कर सकते हैं।

जैसे हमने देखा कि बालक बार बार तो जा सकता है ठाकुर जी के पास – प्रणाम करने या चाकलेट आदि खिलाने, पर टिक नहीं सकता । तो हम भी अपने मन को अधिक समय तक टिकाने के बदले बार बार भेजने का प्रयास करें । अभी तो हम उस माता पिता के समान हैं जो व्यस्त होने पर बच्चों को कहते हैं - अभी काम कर रहे हैं, जाओ अपने खिलौनों से खेलो । धीरे-धीरे बच्चा समझ जाता है कि मां या पिता जी कुछ कर रहे हों तो उन्हें तंग नहीं करना, अपने आप अपने खिलौनों से खेलना । इसी प्रकार हमारा मन भी समझ चुका है कि मम्मी या पापा पूजा पाठ कर रहे हों, माला फेर रहे हों तो डिस्टर्ब नहीं करना, अपने आप में खेलना । इससे हमारा पूजा पाठ भी 'अच्छा' चलता है और मन का खेल भी बढ़िया चलता रहता है ।

पूजा पाठ चलता तो अच्छा ही है, पर रस की अनुभूति तो नहीं होती तो संतों से पूछते हैं, 'महाराज जी क्या करें? माला तो घूमती है पर मन भी घूमता रहता है'।

कुछ स्मार्ट माता पिता होते हैं जो बच्चों को अपने काम में ही लगा लेते हैं – अच्छा चलो, यह सामान उठा कर

लाओ, इसे वहां रखो, उसे बाहर ले जाओ... बीच बीच में शाबाशी भी देते रहते हैं, बच्चे को भी बड़ा रस आता है – और बताओ! और बताओ!

बस, जिसे हम अपनी भाषा में स्मार्ट कहते हैं, उसी को भगवान परम संत कहते हैं। उसकी चेष्टाओं को ही परम योग कहते हैं और इससे जिस आनन्द की उत्पत्ति होती है उसे ही परम रस कहते हैं।

आपको दस बीस माला फेरनी है? नियम है, फेरनी ही है। ठीक है, लेकिन बीच बीच में इस बच्चे को बुला लें। आंखें बंद कर के बस एक नाम लिया - राम! फिर प्रसन्न हो कर इससे पूछा – कितना प्यारा नाम है न? कितना अच्छा लगा न? कभी कहा - देखो, जिह्वा पर उनका नाम आया – और क्या चाहिए! कभी कहा - देखो, हमने इनको याद नहीं किया, इन्होंने ही अपनी याद दिलाई है। हमसे अधिक तो वे ही हमको याद करते हैं। बच्चा खुश हो जाएगा- परम रस!

हम अपने बच्चों को कहते हैं न – देखो, कान्हां जी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं, क्यों न सुबह नींद खुलते ही इस बच्चे को कहें –

भोर भई है चल मन मेरे जीवन धन के दर्शन पाएं।

जानो वे ही बुला रहे हैं, हुआ सवेरा आशीष पाएं।

बहुत काल सपनों में खोए, अब बस उनमें ही खो जाएं।

बिछौने में पड़े पड़े ही परम योग हो जाएगा।

हम चरणामृत लेते हैं न? कभी अंजुली में चरणामृत ले कर मन से मीरा बाई के पास घूम आएं। फिर ठाकुर जी से कहें – प्रभो, आपका चरणामृत ही विष को अमृत बनाने की सामर्थ्य रखता है। मेरे हृदय में अनेक प्रकार के राग द्वेष आदि का विष भरा हुआ है। मुझे विश्वास है कि यह चरणामृत इस विष को भी अमृत अवश्य बना देगा।

मन इतनी बात कहेगा और तब आप चरणामृत ग्रहण करेंगे तो आपको उसी क्षण ऐसे आनन्द का अनुभव होगा जैसा वर्षों की पूजा में कभी नहीं हुआ। हाथ कंगन को आरसी क्या? आज ही अनुभव कर लीजिए न।

बहुत सी ऐसी छोटी छोटी बातें हैं भाव की। हमने अपने आपको पूजा के नियमों में बांध दिया है। अपने गोपाल जी

को भी बांध रखा है। नियम बना लिया कि अपने को तो नहा धो कर स्वच्छ वस्त्र पहन कर ही पूजा करनी है और गोपाल जी की पोशाक प्रत्येक एकादशी को यानि पन्द्रह दिन में बदलनी है। प्रतिदिन पोशाक बदलने वाले भी नियम रखते हैं कि किस वार को किस रंग की पोशाक होनी चाहिए। जहां नियम होता है वहां मन नहीं होता। यह बात किसी के बताने से मानने की जरूरत नहीं है, अपने मन से ही पूछ कर समझ लें। मन नियम से चलना कदापि पसन्द नहीं करता। इसलिए हाथ पोशाक बदलते रहते हैं, फल फूल चढाते रहते हैं और मन चाय बनाता रहता है।

पूजा की क्रियाओं के साथ मन के भावों की मिठास घोलें। पोशाक नहीं बदल रहे, अपने प्राण प्यारे का सिंगार कर रहे हैं। जैसे अपना सिंगार करते समय दर्पण में अलग अलग भाव भंगिमाओं के साथ घूम घूम कर देखते रहते हैं, यदि वस्त्र या आभूषण की मैचिंग में या मेकअप में कोई कमी हो तो 'फाइनल टच' देते हैं, फिर अपना रूप निहारते हैं, फिर किसी को पूछते है कि मेरा रूप अच्छा लग रहा है न? वैसे

ही भाव के साथ सिंगार कर मन को बुलाएं। श्री राजेन्द्र दास महाराज जी बहुत सुंदर और बहुत मधुर गाते हैं –

ये देखो श्याम, ये देखो श्याम

ये ही हैं मेरे नैनाभिराम,

ये ही हैं मेरे जीवन प्राण।

विश्वास कीजिये, मन रस से भर उठेगा। भाव की जो मिठास सिंगार के समय घोली थी वह अनन्त गुणा हो कर मन को मिलेगी - परम योग।

ठाकुर जी को प्रेम से निहारना भी बड़ी प्यारी उपासना है। इसका सूत्र हमें भागवत में वेणु गीत के प्रसंग में मिलता है। जब कदम्ब के नीचे त्रिभंग ललित मुद्रा में खड़े श्याम सुंदर अपने सुकुमार अधरों पर धर मुरली बजाते थे तो वन की हिरणियां दौड़ी आती थी। बहुत मधुर वर्णन है कि वे तन्मय हो कर अपने बड़े बड़े नेत्रों से भगवान नन्द नन्दन को अत्यंत प्रेम से निहारती हैं मानो कह रही हों कि प्रभो, हम तो पशु हैं, हमारे पास हाथ नहीं कि आपकी अर्चा कर सकें, हमारे पास वाणी नहीं कि आपकी स्तुति गा सकें। प्रभो, हम तो आपको

निहार कर ही कृतार्थ हो जाती हैं। यही हमारी अर्चना भी है। हे व्रजनन्दन, इसे स्वीकार करें। यहां एक सुंदर शब्द का प्रयोग है – प्रणयावलोके। प्रणय अर्थात् प्रेम से अवलोकन करना। कन्हैया भी अपने नेत्रों की भाषा से उनकी इस भाव भरी अर्चना को स्वीकार करते हैं। क्यों न हम ठाकुर जी का सिंगार कर के मन को हिरणियों के साथ लगा दें। दिन में आते जाते बार बार अपने प्रेम देव को बस प्रेम से निहारें और मुस्कुरा दें। मन करे तो एक बार गुनगुना लें – ये देखो श्याम...

आगे क्या होगा? वे जानें, बस वे जानें।

जब हम ठाकुर जी को भोग लगाते हैं तब क्या होता है? थाल रखा, घंटी बजाई, ताली बजाई, पानी घुमाया और बस लग गया भोग। कोई कुछ विशेष मंत्र आदि भी पढते हैं। हमारे चक्र जी कहते हैं कि नन्द बाबा ने तो कन्हैया को पढाया नहीं। इसे कहां संस्कृत के श्लोक समझ आते हैं? हां एक भाषा उसे बड़ी अच्छी आती है – हृदय की भाषा। यह भाषा तो वह गायों की, बछडों की और वन के पशु पक्षियों की भी खूब समझ लेता है। तब क्यों न हम भी बस भाव से

कुछ शब्द बोलें, उनकी मनुहार करें । भोग तो वे तभी लगाएंगे ।

स्वामी रामसुख दास जी के वचन हैं – **भगवान प्यारे लगें, मीठे लगें, अपने लगें ! यह सबसे बढ़िया भजन है।**

ऐसे ही छोटे छोटे अनेक प्रयास हो सकते हैं । बस छोटे बच्चे के आम के लिए कूदने जैसे । सबके मन की प्रवृत्ति अलग अलग होती है, अतः सबके लिए ये प्रयास भी अलग अलग ही होंगे । स्वयं ही चिंतन करके समझना होगा कि अपने मन को उनके चिंतन का अभ्यास कैसे हो ।

जिनके पूजा स्थान में अनेक विग्रह हैं, उनके साथ अनन्यता और एकाग्रता की बड़ी समस्या रहती है । अनन्यता के लिए तो संत बताते हैं कि हमारे इष्ट एक ही होने चाहिए । हम अन्य देवी देवताओं की पूजा करते हुए बस यही मांगें कि हमारे ठाकुर जी के प्रति हमारी प्रीति बढ़े । इससे सभी की पूजा करते हुए भी अनन्यता की हानि नहीं होगी ।

किन्तु एकाग्रता तो कठिन ही है । और फिर अधिक विग्रह हों तो सबकी अलग अलग अर्चना करने में ही इतना समय लग जाता है कि अंत तक तन्मयता की तो अपेक्षा नहीं

ही नहीं कर सकते । इसके लिए अपनी मानसिकता के आधार पर कुछ न कुछ तरकीब तो लगानी ही होगी, नित्य पूजा अलग हो और भाव आराधना अलग हो – दिन के ऐसे समय जब मन किसी हडबडी में न रहता हो । अपनी अपनी दिनचर्या के अनुसार निश्चित करें, वरना इतना कुछ करते हुए हम कोरे के कोरे ही रह जाएंगे और उस मानसी साधना के लिए कभी तैयार नहीं हो पाएंगे जो हमारे अगले अध्याय का विषय है ।

योग शास्त्र में योग की परिभाषा दी गई है- योगः चित्त वृत्ति निरोधः। चित्त की वृत्तियों को स्थिर करना 'योग' है और चित्त की वृत्तियों को प्रभु के चरणों में, उनकी लीलाओं में और उनके गुण गान में स्थिर करना 'परम योग' है । सम्भवतः यह परम विशिष्ट विचार भगवान ने उद्धव गीता में ही प्रकट किया है । हमें इस दिशा में प्रयास का पहला कदम बढ़ाने का निश्चय तो अभी, इसी क्षण, अवश्य ही करना चाहिए ।

***

श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

मानसी साधना – ध्यान

जब भी चर्चा ध्यान योग की होती है तो प्रायः परमात्मा के निर्गुण निराकार स्वरूप का ही प्रतिपादन किया जाता है जो समस्त प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है, जो स्वयं कुछ नहीं करता पर जिसके बिना जीव कुछ भी नहीं कर सकता, यह वह तत्व है जिसे न नेत्रों से देखा जा सकता है, न किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण किया जा सकता है। जो न मन के अनुभव में आता है, न बुद्धि से समझा जा सकता है। एक

वाक्य में कहें तो परमात्मा इन्द्रिय मन बुद्धि से परे है । अतः परमात्मा के ध्यान के लिए पहली आवश्यकता यह है कि शरीर मन बुद्धि की समस्त क्रियाओं का निरोध किया जाए । भगवान कृष्ण ने भगवद्गीता के ध्यान योग में भी यही बात कही है । पहले तो शरीर को स्थिर करने की प्रक्रिया बताई, फिर मन बुद्धि के लिए कहा – न किंचित् अपि चिन्तयेत् - किंचित् मात्र भी, कोई भी चिंतन न रहे, इसी के लिए योग शास्त्र में कहा गया – योगः चित्त वृत्ति निरोधः।

साधारण भाषा में कहें तो जो कुछ दिखता है या अनुभव में आता है, उन्हें 'देखना' एकदम बंद करें और जो दिखता नहीं, दिखलाई दे भी नहीं सकता, जो अनुभव से भी परे है, उसे 'देखने' का प्रयत्न करें।

कितना कठिन है न? इसके लिए कठोर यम, नियम, तप आदि की आवश्यकता है । हमारा मन तो दिखलाई देने वाली वस्तुओं में भी स्थिर नहीं रहता, न दिखाई देने वाले स्वरूप पर कैसे स्थिर होगा? तपस्या के इस मार्ग पर 'कृपा के बल' की बात भी नहीं कही जाती, साधक को सब कुछ अपने ज्ञान वैराग्य के बल पर ही प्राप्त करना है। इस अवस्था

को प्राप्त करने पर सारा जगत आत्म स्वरूप जान पड़ता है, किसी से राग द्वेष नहीं रहता, आनन्द ही आनन्द रह जाता है - यही इसकी मंजिल है।

भक्ति मार्ग में चित्त वृत्ति को रोकना नहीं है, बस उसकी दिशा बदल देनी है । हमारा चित्त संसार का चिंतन छोड़ कर भगवान का चिंतन करे । यह अपेक्षाकृत सरल है और अत्यंत मधुर है । दूसरी बात मनोविज्ञान की यह है कि विचारों का प्रवाह उस ओर स्वाभाविक हो जाता है जिससे हमें प्रेम है । मां को अपने बच्चे के चिंतन के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता । बल्कि बात उलटी ही है । बच्चा यदि दूर हो तो मां बार बार उसी का ध्यान करती रहती है । उसे कहा जाए कि तुम उसके बारे में मत सोचो तो वह कोशिश कर के भी सफल नहीं होती ।

उद्धव जी ने हमारे लिए इस मानसी साधना को भगवान के श्री मुख से प्रकट कराया है । उन्होंने पूछा - हे कमलनयन, आप कृपा करके बतलाइये कि आपका ध्यान किस रूप से, किस भाव से और किस प्रकार करना चाहिए?

यहां उन्होंने **रूप** की बात पूछी है और **भाव** की बात पूछी है, स्पष्ट है कि यह निर्गुण निराकार स्वरूप का ध्यान नहीं है, यह तो भगवान श्रीकृष्ण के परम मधुर रूप के ध्यान की बात है।

भगवान ने उत्तर में आरम्भिक क्रियाएं तो वही बताई – स्थिर आसन पर बैठना, प्राणायाम और ओंकार ध्वनि के द्वारा प्राण वायु को वश में करना, इत्यादि । पर इसके बाद अपने सुंदर रूप का ध्यान हृदय में करने को चौदहवें अध्याय में इस प्रकार बताया है – उद्धव, मेरा यह स्वरूप ध्यान के लिए बड़ा ही मंगलमय है। मेरा अंग अंग अत्यन्त सुन्दर हैं। रोम रोम से शांति टपकती है, घुटनों तक लंबी मनोहर चार भुजाएं हैं। सुंदर ग्रीवा, सुंदर कपोल और अधरों पर मंद मंद मुस्कान की अनोखी छटा है। कानों में मरकत मणि के कुंडल झिलमिला रहे हैं। वर्षाकालीन मेघ के समान श्यामल शरीर पर पीताम्बर फहरा रहा है । वक्ष स्थल पर श्री वत्स चिन्ह और लक्ष्मी जी का चिन्ह है। हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म हैं। गले में वनमाला लहरा रही है और कौस्तुभ मणि जगमगा रही है । प्रत्येक अंग सुंदर आभूषणों से सुशोभित हैं । सुंदर

मुख और प्यार भरी चितवन कृपा की वर्षा कर रही है । उद्धव, मेरे इस सुकुमार रूप का ध्यान करना चाहिए।

भगवान के रूप का यह वर्णन पढा तो एक दो मिनट में ही जा सकता है पर एक एक अंग का ध्यान अपने मन को वहां टिकाते हुए धीरे-धीरे किया जाता है।

इसके बाद ध्यान में और प्रगाढ़ता लाने की विधि बताते हुए भगवान कहते हैं कि जब सारे अंगों का ध्यान होने लगे तो अन्य अंगों का चिंतन न करके केवल मंद मंद मुस्कान की छटा से युक्त मेरे मुख का ही ध्यान करे। जब चित्त मुखारविंद में ठहर जाए तो वहां से हटा कर आकाश में स्थित करे। फिर आकाश का चिंतन भी त्याग कर मेरे स्वरूप का चिंतन करे जो सृष्टि के कण कण में विराज रहा है। इस प्रकार जब चित्त समाहित हो जाता है तब जैसे एक ज्योति दूसरी ज्योति से मिल कर एक हो जाती है, वैसे ही भक्त अपने में मुझे और मुझ सर्वात्मा में अपने को अनुभव करने लगता है। जो योगी मुझमें ही इस प्रकार अपने मन को विलीन कर देता है उसके चित्त से वस्तुओं की अनेकता, भिन्नता और उनकी प्राप्ति के लिए होने वाले कर्मों का भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है।

यहां कुछ बातें विशेष रूप से चिंतनीय हैं। यह किसी विग्रह, प्रतिमा या चित्र में देखे गए अचल स्वरूप का ध्यान नहीं है, यह तो भगवान श्रीकृष्ण के मधुर और सचल स्वरूप का ध्यान है जो अत्यंत सुंदर है, मन को अपनी ओर आकर्षित करने वाला है, जो अत्यंत कृपामय हैं, करुणामय है। ये वे श्रीकृष्ण हैं जो हमारे हृदय में और सृष्टि के कण कण में विराजमान हैं। हमें उनकी लहराती वनमाला, फहराते पीताम्बर और मंद मंद मुस्काते अधरों का ध्यान करना है। हमारे चंचल मन को इस चंचलता का आश्रय मिलेगा तो वह रमण करने लगेगा। भगवान ने तो संक्षिप्त वर्णन किया है, जैसे चित्रकार पेंसिल से पहले एक रेखाचित्र बनाता है। हमें इसमें अनेक रंग भरने हैं, ऐसी छवि बनानी है कि मन करे बस देखते ही रहें। पलकें चाहें कि उन्हें कपाट में बंद कर लिया जाए और पुतली कहे कि तू सामने से हट जा, मैं तो अपलक निहारना चाहती हूं। उनकी वनमाला में पांच विभिन्न रंगों के पुष्प हों। उनके श्यामल वर्ण का चिंतन करें। उन्हें नव घन सुंदर कहते हैं - वर्षाकालीन मेघ जो अभी बहुत घनीभूत नहीं हुआ है, कुछ तरलता है, कुछ कुछ पारदर्शी सा है। कहीं

कहीं उनके वर्ण की उपमा नील मरकत मणि अर्थात् नीलम की कांति से की जाती है। वह भी कुछ पारदर्शी सा होता है किंतु बड़ी सुंदर, बड़ी शीतल आभा होती है। इस प्रकार जब चिंतन करेंगे कि ऐसे कन्हैया कैसे सुंदर लगते होंगे तो मन को रमण करने के लिए बहुत स्थान मिलेगा। घूमने दें उसे नन्द नन्दन के आस पास।

जयपुर के श्री राधा गोविन्द देव जी के मंदिर में सुबह लगभग नौ बजे पर्दे के पीछे पुजारी ठाकुर जी का सिंगार करते हैं और बाहर उनके भक्त बड़े ही भाव से गाते हैं –

मैं तो दरसण करबा आयो श्याम दरसण दे दीजो।
म्हां की अरजी दयालु गोविन्द बेगा सुण लीजो।
थांका शीश मुकुट श्याम धारण कर लीजो।
धारण करिया पाछे तो म्हांने दरसण दे दीजो।

इस प्रकार शिख से नख तक विभिन्न आभूषणों का चिंतन करते हुए वे दर्शन की प्रार्थना करते हैं। उस समय ऐसा प्रेम मय वातावरण रहता है जिसका वर्णन लिख कर किया ही नहीं जा सकता। इसका तो स्वयं जाकर अनुभव अवश्य

ही करना चाहिए। इस प्रकार का संगीतमय ध्यान भी बड़ा सुगम और सरस है।

हम भगवान के ध्यान की प्रक्रिया में संतों की वाणियों का आश्रय ले सकते हैं। भगवान ने उद्धव जी को कहा है - परम भाग्यवान उद्धव जी, संतों के सौभाग्य की महिमा की क्या कहें। उनके पास सदा सर्वदा मेरी लीला कथाएं होती हैं। जो उनका सेवन करते हैं उनके सारे पापों तापों को वे धो डालती हैं। जो आदर और श्रद्धा से मेरी लीला कथाओं का श्रवण, गान और अनुमोदन करते हैं, वे मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

भगवान ने मानो अपने रूप के ध्यान का संक्षेप में वर्णन करने के बाद संकेत में लीलाओं के चिंतन की महिमा बता दी है और इसका विस्तार संतों पर छोड़ दिया है।

वास्तव में ये संत भगवान के परिकर ही तो हैं, इनके पास तो भगवान की लीलाओं का अनन्त भंडार होगा ही। सूरदास, परमानन्द दास, कुंभन दास आदि भक्त वास्तव में भगवान के सखा ही हैं। भगवान ने इनके साथ अपने अवतार काल में ही नहीं, इस युग में ही, लगभग पांच सौ साल पहले

अनेक प्रेममयी लीलाएं की हैं। ये हम कलियुग के प्राणियों को प्रेम का यह अद्भुत रस प्रदान करने और प्रीत की रीत सिखाने ही इस धरा पर प्रकट हुए हैं। स्वयं उद्धव जी ही तो भगवान का यश गाने सूरदास जी के रूप में आए। वे जन्म से ही चर्म चक्षुओं से भले ही वंचित थे किन्तु दिव्य चक्षु थे उनके पास। सबके वर्तमान और भविष्य का दर्शन कर लेते थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने कृपा की, ब्रह्म सम्बन्ध कराया तो उसी क्षण से भगवान की लीला के दर्शन होने लगे। पहला पद उन्होंने नन्द महलमें चल रहे नन्दोत्सव का गाया। भला जो जन्मांध हो उसे क्या समझ हो सकती है कि गोपियों ने कैसे सिंगार किया। उसे क्या पता कि पीताम्बर का पीला रंग क्या होता है, फूलों की कलियों से युक्त मोर मुकुट की छटा एक नेत्रहीन भला कैसे जान सकता है। लेकिन सूरदास जी ने भगवान ने एक लाख पदों की रचना की और रूप माधुरी तथा लीला माधुरी का कैसा सुंदर गान किया है! इसी प्रकार परमानन्द दास जी, कुंभनदास जी, कृष्णदास जी, चतुर्भुज दास जी आदि सब भगवान के सखा ही थे।

भगवान के सखा ही नहीं, श्री किशोरी जी की सखियां भी उस काल में प्रकट हुईं। श्री हरिदास स्वामी जी राधा रानी की सबसे प्रिय सखी ललिता जी के ही अवतार हैं । इनकी उपासना सहचरी भाव की है । ये प्रिया प्रीतम के युगल स्वरूप की लीलाओं में ही रमण करती हैं। उनकी मधुर मधुर लीलाओं के अनुकूल सेवा करते हुए उन्हें प्रसन्न देखना ही बस इनके जीवन की कृतकृत्यता है। यहां स्त्री- पुरुष के देह का कोई बंधन नहीं है। पुरुष भक्त भी सहचरी ही है।

इन संतों ने जिन लीलाओं का दर्शन करते हुए गान किया है, उन पदों के माध्यम से भी हम लीला चिंतन कर सकते हैं। एक दो उदाहरण प्रस्तुत हैं -

श्री नाथ जी के भक्त परमानन्द दास जी का एक पद है -

उठो लाल जी भोर भयो है हंस हंस ताना मारे रे।

नन्द लाल अलबेले श्याम तेरा मुखड़ा देखन आई रे।

आधी रात कान्हां बंसी बजाई लाला मंदिर में सुन पाई रे
।

भूल गई सब घर का धन्धा ऐसी लगन लगाई रे।

भर झारी जमुनाजल लाई लाला अचमन करो कन्हाई रे
।

फल मेवा पकवान मिठाई लाला तुम्हरे खातर लाई रे।

उठो मेरे लाला देर न करियो, सास की चोरी आई रे।

नन्द लाल अलबेले श्याम तेरा मुखड़ा देखन आई रे।

परमानन्द दास को ठाकुर हंस हंस बैन बजाई रे।

परमानन्द दास को ठाकुर हंस हंस कंठ लगाई रे।

देखिये कितने सुंदर भाव हैं। इन्हें विस्तार से देखें। ये चितचोर जिसके चित्त को चुरा लेने की ठान लें उसे आधी रात में भी उनकी मुरली की ध्वनि सुनाई देने लगती है और वह सुध-बुध खो बैठती है। अब नींद कहां? उनकी मंद मंद मुस्कनियां, उनकी तिरछी सी चितवनिया को निहारने की तड़प व्याकुल कर रही है, किंतु आधी रात में घर से निकलना और नन्द महल जाना ! कैसे हो? भोर की प्रतीक्षा तो करनी ही होगी। और भोर में ही जाकर औरों के जागने से पहले लौट भी आना होगा। इसी प्रकार सोच विचार करते हुए वह अनेक प्रकार की सामग्री संजोती है, बनाती है।

कुछ बहाना भी तो सोचना होगा न, यदि मैया की नजर पड़ गई तो अवश्य पूछेगी – 'अरी सखी, आज सुबह सुबह कहा काम पड़ गयो'? तो कहना होगा – 'मैया, कल तेरे लाला के दर्शन हुए थे सुबह सुबह, जब मैं दधि माखन बेचने जा रही थी। कल मेरो दधि माखन बहुत अच्छो बिक्यो। तेरे लाला के दर्शन को प्रभाव है, या तांई आज मेरी सास ने कह्यो कि सुबह सुबह दर्शन कर आ'।

अपने लाल के लिये ऐसी बातें सुन कर कौन सी मैया प्रसन्न नहीं होगी? मैया कहेगी –'हां हां सखी, जा, लाला तो अभी सोय रह्यो है, तूं वही उसके मुखड़े का दर्शन कर ले'।

गोपी आई है जहां ये नटवर सब कुछ जानते हुए भी सोने का अभिनय कर रहे हैं। गोपी इस प्रकार हौले हौले मनुहार करते हुए उन्हें जगाने का प्रयत्न कर रही है।

यहां कैसा अद्भुत भाव है! गोपी फल, मेवा पकवान मिठाई ही नहीं, अपने साथ ही झारी में जमुना जल भी लेती आई है, ताकि वहीं उनका मुंह धुला कर अपने हाथों से उन्हें खिला सके और उनके प्रसन्न मुख को निहारने का सुख ले सके।

किन्तु ये लीलामय उठते नहीं, बीच-बीच में जरा सी आंखें खोलते हैं और ऊं... आं... करते हुए पलट कर फिर सो जाते हैं। गोपी जगा रही है और ये लीला कर रहे हैं।

देर होते देख गोपी अधीर हो रही है, क्योंकि वह चोरी चोरी चुपके चुपके आई है। यदि सास जाग गई और उसे घर में नहीं पाया तो ....

वह व्याकुल हो कर मनुहार करती है। ठाकुर जी को अपने भक्त को व्याकुल देखना बहुत पसंद है और मनुहार तो बहुत ही चाहिए। बड़े नखरों के बाद ये नैन खोलते हैं, उठते है, हंस हंस कंठ से लग जाते हैं, हंस हंस कर मधुर मधुर बातें करते हुए उसका लाया मेवा मिठाई आरोगते हैं। गोपी धन्य हो जाती है।

अब बताइये, यह वर्णन पढ कर यह लीला आंखों के सामने घटी कि नहीं? वह व्याकुल गोपी और हंस हंस कर कंठ लगाते कान्हां नजर आए कि नहीं। बड़ा स्वाभाविक है, मन को मोह लेने वाला है। तो बस इस पद को बड़े हौले हौले गाते गुनगुनाते हुए, एक एक पंक्ति को बार बार दुहराते हुए उस गोपी के भावों का और लाला के कोमल स्वरूप का

ध्यान किया जा सकता है । मुरली की धुन को सुनें, अधीर और व्याकुल गोपी की एक एक क्रिया देखें, उसकी फल मिठाई की टोकरी को देखेंकि उसने क्या-क्या संजोया है । कान्हां को हौले हौले जगाना, उनके नाज नखरे, और फिर हंस हंस कर गोपी के कंठ लगना – मन वृंदावन हो जाएगा।

इसे ही कहते हैं भाव समाधि । ठाकुर जी के दर्शन बाहर नहीं होते, अपने हृदय में ही होते हैं ।

हमारे चंचल और अस्थिर मन के लिए रूप ध्यान से भी अधिक सरल, सहज और सरस लीला का ध्यान है । हो सकता है कि इसमें भी मन भटके, पर बीच बीच में एक क्षण की भी झलक मिल गई तो मन मगन हो उठेगा । धीरे-धीरे लोभ बढेगा । प्रति दिन एक ही लीला का चिंतन करने की आवश्यकता नहीं है । संतों की वाणियों का इतना बड़ा भंडार है कि हम जीवन भर यह मानसी साधना करते हुए रस ले सकते हैं । होली आए तो होली लीला, सावन में झूलन लीला और ठाकुर जी की बाल लीला तो अनन्त है ही ।

एक और प्रसंग देख लेते हैं । यह भागवत के ‘वेणु गीत’ का प्रसंग है । श्याम सुंदर जब सखाओं के साथ गउएं चराने

वन में चले जाते थे तो उन्हें देखे बिना गोपियों का दिन बीतना मुश्किल हो जाता था। वे बैठ कर आपस में उनकी ही चर्चा करती। ऐसे ही इन गोपियों की वार्ता है भगवान के वंशी वादन के सम्बन्ध में । मूल भागवत का वर्णन भी अत्यंत मधुर है और श्री सुदर्शन सिंह चक्र जी ने 'नन्द नन्दन' में इसका अद्भुत सरस सजीव चित्रण किया है । मलूक पीठाधीश्वर श्री राजेन्द्र दास महाराज जी तथा अन्य भागवत कथाकार अपनी कथाओं में बड़ा मनहर वर्णन करते हैं। हम इनके आधार पर मन की आंखों से देख सकते हैं-

कदम्ब वृक्ष के तले त्रिभंग ललित सुकुमार श्याम सुंदर अपने कर में मुरली धरे हैं। यह हरे बांस की पोली बांसुरी उन्हें बहुत प्रिय है। इस मुरली को वे नित्य ही अपनी अधर सुधा का पान कराते हैं। आज भी इन्होंने मुरली को अपने अधरों से लगाया और वृंदावन में चारों ओर वह मधुर स्वर लहरी गूंज उठी।

अद्भुत प्रभाव है श्याम सुंदर के वेणु नाद का। यह जड़ को चैतन्य कर देती है और चेतन को जड़। यह दिव्य ध्वनि

गूंजी तो जड़ वृक्षों से रस बहने लगा है। लता वल्लरियों में राशि राशि पुष्प खिल उठे हैं।

गायें चरना भूल गईं हैं। उन्होंने अपने कान ऐसे खड़े कर लिए हैं मानो इन दोनों में भर भर कर यह रस पीना चाहती हैं। बछड़े ने थनों में मुंह लगाया था। वत्सला गौ का दूध अपने आप झर रहा है पर वह पीना भूल गया। दूध बाहर निकल कर बहता जा रहा है। वृक्ष पर उछलते वानर ने दूसरे वृक्ष पर कूदने के लिए अपना हाथ ऊंचा किया था, किंतु वह हाथ उठा का उठा रह गया।

दूर वन में चरते कृष्णसार मृगों ने यह वेणुनाद सुना, दौड़े चले आए। अब थकित, चकित नेत्रों से इस नवघन सुंदर मुरली मनोहर की रूप माधुरी को निहार रहे हैं। उनके बड़े बड़े नेत्र कह रहे हैं - हे व्रज नन्दन, हम तो अपना प्रणय निवेदन बस इसी प्रकार कर सकते हैं, इसे स्वीकार करो नाथ। ठाकुर जी स्नेह से उनकी ओर देखते हैं और उनका यह प्रेम-समर्पण स्वीकार करते हैं।

यमुना किनारे दूर खड़े वृक्षों का उल्लास भी सहस्त्रों पुष्पों के रूप में प्रकट हो रहा है। वे विचार करते हैं - हमें तो

विधाता ने जड़ बनाया है, हमें तो पैर दिये ही नहीं, हम कैसे चल कर जाएं और व्रज के हमारे प्राणधन के चरणों में इन्हें अर्पित करें? यमुना महारानी कल-कल बहती है प्रेम रस के रूप में वृंदावन में। उन्होंने कहा - 'शोक न करो, लाओ, अपने समस्त सुमन मुझे दे दो। मैं तुम्हारी भेंट उनके चरणों में समर्पित कर दूंगी'।

वृक्ष प्रसन्न हो उठते हैं और उनके पुष्प झर झर कर यमुना जल में गिरने लगते हैं। इन सबको समेटे यमुना जी धीर मंथर गति से आगे बढती हैं। ठहर जाती हैं वहां, जहां ये घनश्याम वंशी बजा रहे हैं। अब आगे नहीं बढना। वहीं भंवरें पड़ने लगती हैं।

सब पर जिनकी करुणा समान रूप से बरसती है, वे प्रेम-मूर्ति श्रीकृष्ण सबके भावों को जानते हैं। मुस्कुराते हुए धीरे धीरे आगे बढते हैं। अभी तक तो वृक्ष की छांव में खड़े थे। आगे की रेत तनिक तप्त है, यह अवसर मिला नभ के घनश्याम मेघों को जो इनकी सेवा के लिए आतुर हो रहे थे। वे नीचे झुक आए। नन्हीं नन्हीं फुहियां बरस रही हैं और

वृंदावन की रज को शीतल कर रही हैं, साथ ही ये मेघ ठाकुर जी को शीतल छाया भी प्रदान कर रहे हैं।

व्रज के ये प्राणधन चलते चलते कालिंदी कूल तक जा पहुंचते हैं। यमुना जी अत्यंत उमगित हैं। सारे पुष्प व्रज नन्दन के चरणों में समर्पित कर उल्लसित हैं और वे वृक्ष भी अपने प्रणय निवेदन को स्वीकार किया जाता देख कर भाव विभोर हैं।

नभ मंडल में देवता अपने विमानों पर चढे यह दृश्य देखते है। स्वर्ग के देवताओं को तो इन दीनबन्धु ने बस इतना ही अधिकार दिया है, किंतु वे भी धन्य धन्य हो उठे हैं।

गिरि-कन्दराओं में ब्रह्म के स्वरूप का ध्यान करते योगी-मुनि समाधि के आनन्द को भूल कर इन आनन्द कन्द द्वारा बहाती प्रेम रस सुधा के आनन्द में डूबे जा रहे हैं।

इस मधुर प्रसंग का वर्णन अनेक संतों और भक्तों ने अपनी वाणी में किया है जिन्हें गुनगुनाते हुए हम उनके वेणुनाद की रसमयी लीला का चिंतन कर सकते हैं। संत ब्रम्हानन्द जी का एक पद देखें -

घनश्याम तेरी बंसरी ने क्या सितम किया।

तन का न रहा होश मेरे मन को हर लिया॥

बंसी की मधुर टेर सुनी प्रेम रस भरी।

ब्रज नार लोक लाज काम काज तज दिया॥

नभ में चढे विमान खड़े देव गण सुने।

मुनियों का छुटा ध्यान प्रेम भक्ति रस पिया॥

पशुओं ने तजी घास पंछी मौन हो गए।

यमुना का रुका नीर पवन धीर हो गया॥

ऐसी बजाई बंसरी सब लोक बस किया।

ब्रह्मानंद दरस दीजिये मोहे रास के रसिया॥

कहां तक कहा जाए! जरा अपने मन को इसी प्रकार के पद और लीला माधुरी के वर्णन को ढूंढने में व्यस्त करें। श्री चक्र जी का साहित्य - नन्दनन्दन, सखाओं का कन्हैया, गोलोक एक परिवार इत्यादि तो अनुपम भंडार हैं। इन सभी को आप इस साइट पर पा सकते हैं - www.chakrasahityaonline.wordpress.com

एक बार वृंदावन में महाराज श्री अखंडानन्द जी ने भागवत कथा का आयोजन करवाया था जिसके लिए चक्र जी भी वहां थे । उनके अनुभव उनके ही शब्दों में- ‘मैं सायंकाल यमुना स्नान कर वहीं बैठ जाता था। अकस्मात् एक दिन व्रजराजकुमार ने कृपा की। उनकी एक झांकी मन में आई। लौट कर उसे लिपिबद्ध कर लिया। मन में आया, ऐसी झांकियों की एक माला पूरी हो जाती तो कितना अच्छा रहता! पता नहीं क्यों मुझमें किसी प्रकार का अधिकार न होते हुए भी मैया यशोदा का लाडला प्रारम्भ से ही मेरा पक्षपात करता रहा है । उसने झांकियां देनी प्रारम्भ की । कभी-कभी दो या तीन झांकियां एक साथ प्राप्त हो जाती थी। मैंने उन झांकियों को लिपिबद्ध कर लिया। ये झांकियां माला पूरी होने पर स्वयं ही जैसे आई थी, वैसे ही उनका आना बंद हो गया’ ।

बाद में ये ही ‘राम श्याम की झांकी‘ शीर्षक से प्रकाशित हुई थी । ये छोटी-छोटी झांकियां लीला चिंतन के लिए अनेक साधकों के लिए बहुत उपयोगी साबित हुई हैं। मन अतिशय चंचल है न, भावना कीजिए कि यह एक बंदर है।

यशोदा मैया ने अपने लाल के पैरों में कड़े पहनाए हैं स्वर्ण के । इस बंदर की डोर बांध दीजिए उनसे । कन्हाई चले तो वह भी साथ साथ चलेगा । यदि कन्हाई कहीं बैठ जाए, विश्राम करने लगे तो बंदर वहीं सामने खड़ा उछल कूद कर सकता है ।

अब इन झांकियों में जो लीला है, उनका चिंतन करें । हो सकता है कि मन फिर भी न स्थिर हो, पर विश्वास कीजिये कि एक क्षण, आधे क्षण के लिए भी टिक गया तो श्रीकृष्ण प्रेम रस के कुछ बिंदु अवश्य मिलेंगे ।

नहीं मिलते? तो फिर परम भक्त गोस्वामी बिंदु जी की भांति उन्हें उलाहना दे सकते हैं । उलाहना सुनना भी इन्हें बहुत प्रिय है ।

मोहन अब हम तुमसे रूठे ।

जान गए तुम छली प्रपंची हो कपटी हो झूठे ॥

पहले शरण बुलाया था दे दे कर के लोभ अनूठे ।

अब एक बार दरशन देने में भी दिखलाते अंगूठे ॥

सुनते हैं देते हो सबको सब सुख भर भर मूठे ।

हमने शत शत बिंदु बहाए दिये न टुकड़े जूठे ।।

मोहन अब हम तुमसे रूठे ।

ये ही बिंदु जी कभी बताते हैं –

जब से घनश्याम इस दिल में आने लगे ।

क्या कहें रंग क्या क्या दिखाने लगे ।।

बिंदु जी की 'मोहन मोहनी' में आपको भक्ति के सारे रंग मिलेंगे । यह धार्मिक पुस्तकों के सभी केन्द्रों पर उपलब्ध है ।

कभी बरसाने के सिद्ध संत रमेश बाबा के पास चलें - वे अत्यंत भाव के साथ गाते हैं - बुलाता रह दिले नादान वे आए या नहीं आएं ।

हम कलियुगी प्राणियों को यह सोच कर व्यथित होने की आवश्यकता नहीं कि संत का संग कैसे मिले? अब तो यू ट्यूब के माध्यम से भी संग करना संभव है । मन उलझा रहे उनमें बस! बनते बनते बात बन ही जाएगी । इस प्रेम मार्ग का सौन्दर्य रही है, अन्य मार्ग कहते हैं – मन को संसार से हटाओ और प्रभु में लगाओ । प्रेम मार्ग कहता है – मन को प्रभु में लगाओ, संसार अपने आप हट जाएगा ।

हां, यह बात है कि ऐसी रसमयी अवस्था एक दो दिन या एक दो वर्षों में नहीं आ जाती। कागज पर लिखने या पढने में तो थोड़ा सा समय लगता है पर मन को तैयार होने में लंबा समय लग जाता है। संसार के लिये भी तो इतने समय से इतना परिश्रम कर रहे है, क्या मिला? अब कुछ इधर भी बाजी लगाकर तो देखें। असफल प्रयत्न ही सही, जब वे देखेंगे कि मेरे लिए परिश्रम कर रहा है तो वे स्वयं करुणा करेंगे। करुणा तो उनका स्वभाव है। वे हमारे परिश्रम से नहीं अपनी कृपा से आते हैं।

बड़ी अलबेली है यह डगर। कभी तो लगेगा कि श्याम घन बरस रहे हैं, भिगो रहे हैं। कभी एकदम नीरसता छा जाएगी। न भजन में मन लगेगा, न संसार में। धैर्य रखें। रमेश बाबा गाते हैं -

भरोसा रख वो सुनता है, वो दर्दे दिल का आशिक है।

न जाने किस घड़ी में रूबरू तेरे वे हो जाएं।

और तो और, उन्होंने अपनी प्राणप्रिया गोपियों को भी कितना तड़पाया। प्रकट होने पर मुस्कुरा कर कह दिया कि यह तो मेरा स्वभाव है, मैं कभी मिलता हूं कभी छुप जाताहूं।

मेरे प्रेमीजन जब प्रेम की पीड़ा में डूबते हैं तो मैं फिर प्रकट हो कर उन्हें सुख सिंधु में डुबो देता हूं।

कभी कभी ऐसा भी होगा कि हम उस सुख सिंधु में डूबे होते हैं पर कोई छोटी सी घटना, किसी के द्वारा किया गया सामान्य सा अपमान, तिरस्कार, कटु वचन हमारे सारे आनन्द को मटियामेट कर देगा। मन पीड़ा से भी भर उठेगा और ग्लानि से भी – अरे, अभी तो चल रहा था – जैसे राखोगे वैसे ही रह लेंगे हम, बस यही समर्पण है तुम्हारा? अपने आप को संयमित न कर पाने के कारण होने वाली ग्लानि जीवन के ताप संताप को अनेक गुणा बढा देती है। यह हम सब साधकों के जीवन में स्वाभाविक है। तभी हम आर्त होकर पुकार सकेंगे - हे नाथ, मुझमें अपना कोई बल नहीं है, बस एक तुम्हारी कृपा का भरोसा है। मैं भव सिंधु में डूब रहा हूं, तुम मुझे निकालो नाथ !

भगवान को हमारी भक्ति के सब रंग प्रिय हैं । ये वनमाली पांच प्रकार के पुष्पों की माला धारण करते हैं – सबके अलग रंग हैं, अलग अलग सुगंध है। कहते हैं कि ये विभिन्न भाव वाले भक्त हैं और सभी को ठाकुर जी प्रेम से

कंठ लगाए रखते हैं। बस एक बात ध्यान में रहे कि आर्त हो कर भी उन्हीं को पुकारें। किसी को 'देख लेने' या 'दिखा देने के लिए नहीं, बस स्वयं को निर्विकार बनाने के लिये। कभी वे बोल उठेंगे – मेरे बच्चे, यह संसार उलझने के लिए नहीं है, अपने उलझे मन को सुलझाने के लिए है।

निश्चल, निश्छल प्रेम के इस पथ के लिए बारम्बार यही कहा जाता है कि इसमें संसार को छोड़ने का प्रयत्न नहीं करना है, भगवान अपनी ओर से ही छुड़ा देते हैं। आसक्ति की जिन डोरियों में हम जकड़े हुए हैं, उन्हें अपने प्रयत्न से नहीं तोड़ पाएंगे। प्रभु की कृपा से ही, उनके दिये विवेक से ही, हमारे बंधन धीरे धीरे धीरे ढीले होते जाते हैं। बार बार उनकी वाणी को स्मरण करें – मेरे बच्चे, यह संसार उलझने के लिए नहीं है, अपने उलझे मन को सुलझाने के लिए है। पहली बार जब यह वाक्य मैंने श्री हित अम्बरीष जी की वाणी से सुना, मुझे बिलकुल ऐसा लगा कि आज तो संत के मुख से मेरे ठाकुर जी ही बोले हैं। तब से अब तक न जाने कितनी बार इस वाणी ने मुझ गिरते को उठाया है।

बस बार बार मन को प्रबोध दें – जो यहां तक लाया है, वह आगे भी ले जाएगा और मंजिल तक भी पहुंचाएगा। वैसे सच तो यह है कि प्रेम का पथ ऐसा है जहां - ये ही राह, यही मंजिल है।

लड़खड़ाए बिना भला किसने चलना सीखा है! किन्तु ऐसी अवस्था में जब जब किसी संत की वाणी से ऐसे सांत्वना भरे शब्द सुनने को मिलते हैं, मन को बड़ा विश्राम मिलता है, इसलिए बहुत महत्व है इन शब्दों का हर साधक के लिये।

कभी-कभी मन अनायास ही मलिन हो उठता है। स्वप्न में तो हमारा मन न जाने कहां कहां की नई पुरानी वृत्तियों को आपस में बड़े अजीब ढंग से मिला जुला कर न जाने कैसे कैसे दृश्य दिखाता ही है, जाग्रत में भी न जाने कब किसी पुरानी अप्रिय घटना को उछाल कर नेत्रों के सामने प्रस्तुत कर देता है। हां, हम ऐसे ही हैं, हमारा मन ऐसा ही है, शरणागत भक्त के ऐसे ही मन को साधना है प्रभु को। कहीं ऐसी कोई नकारात्मक वृत्ति शरीर त्याग के अंतिम क्षण में आ गई तो सब कुछ बेकार हो जाएगा। इसलिए उन्हें भी भक्त की चिंता

रहती है और वे उसे सबल बनाना चाहते हैं । अतः ऐसी अवस्था में भी विचार करें कि मेरी करुणामयी मां मुझे नहलाने धुलाने के लिए कितना परिश्रम कर रही है । उनकी कितनी नजर रहती है अपने दुर्बल बालक पर ।

एक बार मैं ऐसी ही अवस्था में संताप के साथ ग्लानि का भी अनुभव कर और अधिक क्लेश में डूबी जा रही थी । किसी ने मुझे चक्र जी का एक विडियो भेजा । मैंने उनकी पुस्तकें तो अनेक पढी भी और इंटरनेट पर अपलोड भी की हैं ताकि उनके दुर्लभ ग्रंथ सबको सदा के लिए उपलब्ध हो सकें, लेकिन कभी दर्शन नहीं किये थे । वे फोटो तक नहीं खिचवाते थे । यह दुर्लभ विडियो अखंडानन्द महाराज जी के जन्म समारोह का था – बस कुछ ही मिनट का । मैंने खोला तो सुना, 'ऐसी कल्पना मत करना कि मन सदा स्वस्थ ही रहेगा । जैसे यह शरीर पंच महाभूतों से बना है, वैसे ही मन भी इन्हीं पंच महाभूतों से ही बना है । अतः जैसे शरीर में विकार आते हैं, कभी कभी रोगी हो जाता है, वैसे ही मन भी होगा । शरीर के रुग्ण होने पर हम यथासंभव उपचार करते हैं किन्तु ग्लानि नहीं करते, वैसे ही साधक को मन की

अस्वस्थता के लिए ग्लानि नहीं करनी चाहिये। उसे स्वीकार करते हुए अपनी साधना में लगे रहना चाहिए' ।

यह संदेश तो मेरे लिए मानो ठाकुर जी ने विशेष रूप से भिजवाया था । सुनते ही सारी धुंध छंट गई । फिर तो सब समझ में आने लगा कि संत कबीर की महिमा कौन गा सकता है, पर कभी ऐसे ही किसी क्षण में ग्लानि में डूबते हुए अपने मन को प्रबोध दिया होगा उन्होंने - धीरे धीरे रे मना धीरे सब कुछ होय । माली सींचे सौ घड़ा ऋतु आए फल होय। भक्त रैदास जी ने भी गाया है – हे हरि आवहु बेगि हमारे । जैसे दौपदी के लिए आए, जैसे प्रह्लाद के लिए आए वैसे ही मेरे लिए आओ । उनके जैसे निष्काम, निष्किंचन, सिद्ध भक्त ने भी किसी परिस्थिति में ही आर्त हो कर ऐसे पुकारा है । सूरदास जी ने भी पुकारा- अब मैं नाच्यो थक्यो गोपाल .... सूरदास की सभै अविद्या दूर करो नन्दलाल। ये संत भी ऐसी पीड़ा से गुजरे हैं तब हमारी तो औकात ही क्या है? पर हमें इन संत वाणियों का आश्रय लेते हुए आगे बढना ही है जहां आकाश का एक एक कोना आनन्द से भरा हुआ है और रस का सिंधु लहरा रहा है । जब तक अन्तःकरण पूर्ण

शुद्ध न हो, साधना में लगे रहना है। माया के पार जाना है, पर बल अपनी साधना का नहीं, उनकी कृपा का ही हो। हमारी दुर्बलता उन्हें हमसे दूर नहीं करती वरन् और पास लाती है। भक्ति के सभी रंगों में दीनता और विनम्रता उन्हें सबसे अधिक प्रिय है। अहंकार और कपट उन्हें सर्वाधिक अप्रिय है। बीच बीचमें लडखडाते रहेंगे तो अहंकार नहीं जागेगा, दैन्य बना रहेगा। बस निष्कपट होकर प्रार्थना करते रहें -

है यही तमन्ना मेरी भले लाखों बार गिरूं मैं।

पर गिरूं तेरे चरणों में और उठूँ तुम्हारे कर में।

ये वात्सल्यमय ठाकुर इस पुकार को अनसुना नहीं कर सकते।

अंत में फिर एक बार-

हरि से लागे रहो मेरे भाई, तेरी बनत बनत बन जाई।

***

श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

भगवद् दर्शन

भगवान ने उद्धव गीता में जहां जहां ज्ञान मार्ग, योग मार्ग आदि की चर्चा की है वहां अपने विशुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन किया है । अट्ठाईसवें अध्याय में भी तत्व का निरूपण करते हुए कहते हैं कि उद्धव, व्यवहार में अनेकता

जान पड़ती है, लेकिन तत्व का चिंतन करें तो सब एक ही हैं। अतः किसी के शांत, घोर या मूढ स्वभाव तथा उसके अनुसार किये गये कर्मों की न स्तुति करनी चाहिए न निंदा। सर्वदा अद्वैत दृष्टि रखनी चाहिए। (११.२८.१)

इस विषय पर चिंतन के लिए भगवान ने अनेक सूत्र दिये हैं –उद्धव, सोने के कंगन, कुण्डल आदि अनेक आभूषण बनते हैं, परन्तु जब वे गहने नहीं बने थे, तब भी सोना था, और जब नहीं रहेंगे तब भी सोना रहेगा। इसलिए जब बीच में उनकी आकृति के अनुसार अनेकों नाम रख कर भिन्न भिन्न प्रकार से व्यवहार करते हैं, तब भी वह सोना ही है। ठीक इसी प्रकार इस जगत की समस्त वस्तुओं और प्राणियों का आदि, अंत और मध्य भी मैं ही हूं। वास्तव में मैं ही सत्य तत्व हूं।(११.२८.१९)

उन्होंने जीव का स्वरूप भी बताया - वह परम तत्व ही सबमें आत्मा के रूप से विराजमान है। लेकिन देह, इन्द्रिय, प्राण और मन के साथ दीर्घ काल तक रहते हुए वह उन्हें ही अपना स्वरूप मानने लगता है तब उसका नाम 'जीव' हो जाता है। उन देह आदि के द्वारा वह अनेक प्रकार के कर्म

करते हुए उनके फल और संस्कार संचित करता है और काल रूप परमेश्वर के अधीन जन्म-मृत्यु रूप संसार में इधर-उधर भटकता रहता है।(११.२८.१६)

यही अविद्या या अज्ञान है । आत्मा और अनात्मा के स्वरूप को पृथक् पृथक् समझ लेना ही ज्ञान है । अविद्या निवृत्त होते ही द्वैत का अस्तित्व मिट जाता है ।

इसके लिए साधन बताए - तपस्या द्वारा हृदय को शुद्ध करना और वेदादि शास्त्रों तथा महापुरुषों के उपदेशों का श्रवण, मनन और उनके अनुसार आचरण (निदिध्यासन) - इन्हीं के द्वारा स्वानुभूति होती है । आनन्द स्वरूप आत्मा के साक्षात्कार से संसार संबंधी सभी आशा, तृष्णा नष्ट हो जाती हैं ।

भगवान ने अट्ठाईसवें अध्याय में इस विषय का विवेचन बहुत विस्तार से किया है, किंतु पुनः उद्धव जी द्वारा सरल सुगम साधना के अनुरोध पर अगले अध्याय में भक्ति की बात पर आ गए ।

एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न मन में आता है कि भक्त तो भगवान के साथ एकरूपता की बात सोचता ही नहीं, वह तो

प्रभु के चरणों की सेवा हीचाहता है, दास ही बने रहना चाहता है। कोई भी दास अपने को स्वामी कैसे समझेगा? वह प्रभु से एकरूपता नहीं चाह सकता । वह तो मुक्ति भी नहीं चाहता। हां, उनके दर्शन अवश्य चाहता है । ऐसे भक्त के लिए भगवान क्या करते हैं? भगवद् दर्शन कैसे होता है, कैसे हो सकता है, इस विषय पर बड़ी जिज्ञासा थी और भगवद् कृपा से कुछ संतों से बड़ी अच्छी चर्चा करने, सुनने और पढने का अवसर मुझे मिला । उद्धव गीता के माध्यम से ऐसे ही प्रसाद को वितरित करते हुए पाने का यत्किंचित प्रयास है मेरा ।

श्री चक्र जी के ग्रंथों से ही श्रीकृष्ण प्रेम का परिचय मिला था मुझे । उन्होंने एक स्थान पर बताया है कि भक्त की भावना और लालसा तीव्र होती है तो उसे दर्शन होते हैं । उन्हें भी अनेक बार दर्शन हुए थे । उनके जीवन चरित्र - श्री चक्र चरितम् में उनके ऐसे अनेक प्रसंगों का वर्णन है, जिनका संकलन अलग से ‘चक्र जी के महाभाव’ में भी है ।

चक्र जी ने एक पुस्तक में लिखा है कि भक्त भगवद् भाव से भावित रहता है तो उसे अनेक अनुभूतियां हो सकती हैं,

दर्शन भी हो सकता है। हो सकता है कि स्वप्न में दर्शन हों। कभी ऐसे समय में हो सकता है जब नींद पूरी तरह से खुली न हो, कुछ कुछ तन्द्रा की अवस्था हो, पर यह तो लगे कि यह स्वप्न नहीं था। यह भी हो सकता है कि उनके कुछ चिन्ह भी शेष रह जाएं, उनके अंगों की सौरभ या कोई पुष्प अथवा और कुछ। कभी पूर्ण जाग्रत अवस्था में भी वे मंद मंद मुस्कुराते हुए, मुरली बजाते हुए, कृपा वृष्टि करते हुए अनुभव में आ सकते हैं। क्या इन्हें भगवद् दर्शन माना जाए?

कोई भी अनुभव भगवद् दर्शन है कि नहीं, इसकी एक स्पष्ट कसौटी है कि इसके बाद अविद्या की निवृत्ति हुई कि नहीं। भगवान के सामने चित्त की अविद्या का ठहर नहीं सकती, जैसे सूर्य के उदय होने के बाद उनके प्रकाश के सामने अंधेरा ठहर नहीं सकता।

श्री चक्र जी ने यह भी लिखा कि अविद्या की पूर्ण निवृत्ति नहीं हुई तो इसे दर्शन तो नहीं माना जा सकता, फिर भी यदि साधक को ऐसे अनुभव होते हैं तो भी वंदनीय हैं, क्योंकि ऐसा भी तभी हो सकता है जब हृदय में उनके प्रति भावनाओं का तीव्र आवेग हो और इन भाव तरंगों ने श्रीकृष्ण

का रूप ले लिया हो। ऐसा होना भक्ति की एक उत्कृष्ट अवस्था है।

इस विषय को बहुत सिलसिलेवार ढंग से बताते हैं श्री राजेन्द्र दास महाराज जी। वे कहते हैं – भगवद् दर्शन चार प्रकार से होते हैं।

पहला है स्वप्न में दर्शन। यद्यपि स्वप्न तो मिथ्या ही कहा जाता है, किंतु भगवान सत्य स्वरूप हैं, अतः स्वप्न में भी उनका दर्शन मिथ्या नहीं हो सकता। स्वप्न में भी हर किसी को भगवान के दर्शन नहीं होते।

इससे उत्कृष्ट है ध्यान में दर्शन। स्वप्न में तो अपना प्रयत्न भी नहीं, अपना कुछ भी वश नहीं, किंतु ध्यान में साधक अपनी चेतना, अपनी भावना को भगवद् प्रेम से भावित करता है, अतः यह स्वप्न दर्शन से उत्कृष्ट है।

तीसरा है प्रत्यक्ष दर्शन। भक्त की अभिलाषा उत्कट हो तो भगवान कृपा करते हैं और प्रत्यक्ष होकर भी दर्शन देते हैं। यह भक्ति की बड़ी ऊंची अवस्था है।

किन्तु भगवान का सम्पूर्ण दर्शन तो वही है जब विश्व के समस्त जड़-चेतन में उनके दर्शन होते हों। यही परम ध्येय है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी अवस्था को प्राप्त कर कहा - सिया राम मय सब जग जानी। करउं प्रणाम जोरि जुग पानि।

भगवान ने उद्धव जी को यही कहा है कि जब तक समस्त प्राणियों में मेरी भावना – भगवद् भावना न होने लगे तब तक साधक मन, वाणी और शरीर के सभी संकल्पों और कर्मों द्वारा मेरी उपासना करता रहे। (११.२९.१७)

भगवान ने यह स्पष्ट कर दिया कि भक्त की उपासना का परम फल भी सबमें एक प्रभु को देखना ही है और ज्ञान मार्गी भी जब सर्वत्र आत्म बुद्धि - ब्रम्ह बुद्धि का अभ्यास करता है तब ज्ञान होने पर उसे सब कुछ ब्रम्ह स्वरूप दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जाने पर सारे संशय-संदेह अपने आप निवृत्त हो जाते है और वह सब कहीं मेरा साक्षात्कार करके संसार दृष्टि से उपराम हो जाता है।(११.२९.१८)

इस प्रकार जो भक्ति का परम फल है वही ज्ञान का भी परम फल है – अद्वैत का दर्शन।

हम भले ही उपासना की प्रारम्भिक अवस्था में ही हों, किंतु लक्ष्य की स्पष्टता तो होनी ही चाहिए और हर अवस्था में कुछ प्रयास भी करना ही चाहिए।

राम कृष्ण मिशन रांची के महाराज स्वामी शशांकानन्द जी का बहुत अनुग्रह रहता था मुझ पर। उनके चरणों में बैठ कर मैं बिना किसी संकोच के जो चाहती वह पूछ लेती थी। एक बार मैंने उनसे पूछा – महाराज जी, सत्संग में जो भी सुना या पढा उसमें कोई बात जीवन में दस बीस प्रतिशत उतरी, कोई एक दो प्रतिशत ही उतरी, पर सबमें भगवान को देखने की बात तो बिलकुल भी समझ में ही नहीं आई है। कैसे हो सकता है यह?

उन्होंने बड़ी स्नेह भरी दृष्टि से मुझे देखा और मुस्कुराते हुए बोले – इसके लिए अभ्यास करना पड़ता है। हमारे शास्त्रों में कहा गया है - मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव। इसका तात्पर्य यह है कि माता, पिता और आचार्य को भगवान का ही स्वरूप मान कर उनकी सेवा करनी चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने इसमें तीन बातें और जोड़ी हैं – दरिद्र देवो भव, अज्ञानी देवो भव, रोगी देवो

भव। उन्होंने कहा है कि यदि तुम भगवान की सेवा करना चाहते हो तो इनकी सेवा करो। वह नर के रूप में नारायण है। वही एक अज्ञानी पुरुष, एक दरिद्र या रोगी मनुष्य के रूप में तुम्हारे सामने खड़ा है।

महाराज जी ने कहा - इसीलिए हमलोगों की प्रमुख साधना इन तीन की भगवद् भाव से सेवा है। हम समाज के इस वर्ग के लिए शिक्षा के संस्थान चलाते हैं, अस्पताल और क्लीनिक इत्यादि चलाते हैं और इनके लिए अन्य प्रकल्प भी चलाते हैं।

रांची में भी बहुत बड़ा कार्य हो रहा है 'दिव्यायन' के माध्यम से। यह एक कृषि महाविद्यालय तो है ही, इसके साथ गांव गांव में अनेक सेवा कार्य किये जा रहे हैं। महाराज जी ने बताया कि हमें ऐसी ही शिक्षा दी गई है कि जब मैं अपनी डिस्पेंसरी में बैठता हूं तो जो भी रोगी प्रवेश करता है उसे देखते ही मैं अपने आप से कहता हूं कि इस वेश में भगवान ही मेरे सामने आए हैं। तब इसी भावना से भावित हो कर उनकी सेवा होती है। जीवन में यह अभ्यास करते रहना चाहिए ।

इसी चर्चा में उन्होंने समझाया कि यदि आप चाहती हैं कि भगवान की कुछ सेवा मिले, और यदि आपको लगता है कि हमलोगों की भांति सेवा कर पाने की क्षमता नहीं है, तो फिर यह क्यों न मानें कि भगवान को आपसे जिस रूप में सेवा लेनी है उसी रूप में आपके सामने, आपके आस पास हैं। उन्होंने आपको जहां रखा है, जिनके बीच रखा है उन्हें ही भगवत् स्वरूप मान कर भगवान की सेवा का अभ्यास करें, क्योंकि उन्हें आपसे यही सेवा लेनी है।

हमारे ही समय में, हमारे ही मध्य एक ऐसी विभूति थीं - श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार 'भाईजी'। वे गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' पत्रिका के सम्पादक भी थे और एक व्यवस्थापक के तौर पर भी अनेक प्रकार की जिम्मेदारियों का निर्वहन भी करते थे, और यह सब करते हुए सर्वत्र भगवद् दर्शन उनके जीवन में पूर्ण रूप से सिद्ध हो चुका था। एक बार गीता वाटिका में अखण्ड संकीर्तन चल रहा था। रात्रि के समय एक लटकती हुई लालटेन से फूस की एक कुटिया में आग लग गई और देखते ही देखते अग्नि ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया स्वयं महाराज श्री अखंडानन्द जी ने अपने

संस्मरण में लिखा है –“आग लगने पर भाईजी अपने कमरे से बाहर निकल कर आए और बोले- अग्नि देव के रूप में स्वयं भगवान पधारे हैं । खूब घी लाओ, बूरा लाओ । भलीभांति से इस रूप में भगवान का सत्कार करो । वैसा ही किया गया । मैं भी गुफा के समान बनी हुई अपनी सेवाकुटी से बाहर आ गया था और भाईजी की यह भावभक्ति देख कर गद् गद् हो रहा था । सचमुच भाईजी ने जीवन भर इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि सब कुछ भगवान की लीला है, सब रूप में भगवान ही हैं”।

अपनी चिर विदाई के पूर्व भाईजी ने अपना वसीयतनामा लिखा । यहीं पर उन्होंने अपनी लेखनी से अपने संबंध में संकेत रूप से कुछ लिखा है । इस वसीयतनामे के एक अंश का शीर्षक उन्होंने दिया – मेरी अतुल सम्पत्ति । इसमें उन्होंने लिखा है -

“मुझे जो कुछ लाभ हुआ, उसमें संत कृपा के साथ तीन चीजों की प्रधानता है -

सबमें भगवान को देखना

भगवद् कृपा पर अटूट विश्वास

भगवन्नाम का अनन्य आश्रय

यह मेरी अतुल सम्पत्ति है और यह इतनी विशाल है कि असंख्य लोगों के द्वारा इसके ग्रहण किये जाने पर भी यह कम नहीं होगी । आप जो कोई मेरे यथार्थ उत्तराधिकारी बनना चाहें, सबमें भगवान् देखकर सबका हित-सुख-सम्पादन तथा सम्मान करें । निरन्तर बरसने वाली भगवद् कृपा की अहैतुकी अनन्त सुधाधारा में सराबोर रहे और अनन्य निष्ठा-विश्वास के साथ भगवन्नाम जप कीर्तन करते रहे। ये तीनों करेंगे तो अवश्य ही पारमार्थिक लाभ होगा" ।

गीता वाटिका द्वारा प्रकाशित 'मेरी अतुल सम्पत्ति' शीर्षक पुस्तिका परमार्थ पथ के हर पथिक को अवश्य पढनी चाहिए। यहां तो बस एक आध बातें ही प्रस्तुत हैं -

भाईजी लिखते हैं कि पहले तो यह धारणा दृढ करनी चाहिए कि वास्तव में भगवान सबमें विराजमान हैं, वे ही सब रूपों में लीला कर रहे हैं । फिर सब रूपों में उन्हें देखने का अभ्यास करना चाहिए । जो सामने आए वह भगवान, और जो हो रहा है वह उनकी लीला । व्यवहार तो उनके स्वांग के

अनुसार ही होना चाहिए। वे जिस वेष में आते हों उस वेष के अनुरूप ही वैसे कर्म से उनकी उपासना हो।

पुत्र को पिता कहने वाला पागल होता है, पत्नी को मां कहने वाला भी पागल होता है। मालिक को नौकर और नौकर को मालिक कहने वाला भी पागल होता है। लेकिन इन सबमें भगवान को देखने वाला ज्ञानी होता है।

भाईजी ने इसके लिए अभ्यास बताया कि व्यवहार में जो भी हमारे सामने आए उसके अन्दर विराजमान भगवान को पहले मन ही मन प्रणाम कर लें और अपने को उनकी लीला का एक पात्र मान कर उनकी आज्ञानुसार लीला करें। माता हो तो प्रणाम करें, रोगी हो तो सेवा करें, बच्चा है तो दुलार करें।

भाईजी ने इसे विस्तार से बताया है। उन्होंने गीता प्रेस जैसे बड़े संस्थान का कुशलता पूर्वक संचालन किया। कभी किसी को डांटने की भी आवश्यकता होती, कभी ऐसा व्यक्ति भी सम्मुख होता जो उनके प्रति वैर भाव रखता था, लेकिन सभी प्रकार से व्यवहार भी सफलता पूर्वक किया और सर्वत्र भगवद् दर्शन की सिद्धि भी प्राप्त की।

हम जैसा प्रमादी साधक इस अभ्यास में निरंतर तो नहीं रह पाता, पर थोड़ा अभ्यास भी कभी कभी खीजे हुए मन को शीतल कर देता है । भाईजी के जीवन के विषय में श्री राधेश्याम बंका जी ने काफी कुछ लिखा है । वे बहुत लम्बे समय तक उनके निकट रहे । एक बार मैंने गीता वाटिका से डाक द्वारा कुछ पुस्तकें मंगाई तो उन्होंने अपनी ओर से कृपा करके कुछ और पुस्तकें भी भेज दीं । ऐसे साहित्य को मनन पूर्वक पढना भी हमें भगवान के निकट ले जाता है ।

भाईजी ने सर्वत्र भगवद् दर्शन के विषय में जो लिखा है उसका मनोयोगपूर्वक अभ्यास किया जाए तो सफलता अवश्य ही मिलेगी, केवल इसलिए नहीं कि हमने प्रयास किया, इसलिए कि भाईजी ने लिखा है कि उनकी इस अतुल सम्पत्ति के भागीदार सब बन सकते हैं । सिद्ध महात्मा की वाणी में ऐसी शक्ति होती है ।

किन्तु न जाने क्यों अंत में हरिनाम प्रेस वाले परम श्रद्धेय व्रज विभूति श्री श्याम दास जी की छवि दृष्टि में आ रही है, यह समझाते हुए कि भगवद् दर्शन अथवा भगवद् प्राप्ति की

नहीं, भगवद् प्रेम की प्राप्ति की अभिलाषा करो। यही जीव का पंचम पुरुषार्थ है, यही परम प्राप्तव्य है।

***

श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

भगवान से भाव-संबंध

‘भगवान से भाव संबंध’, अर्थात् ऐसा लगे कि वे मेरे ‘भगवान’ नहीं, मेरे ‘अपने’ हैं – यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है। यही परम सत्य भी है - वे **ही** हमारे अपने हैं, अपने

स्वजन। भगवान की तो भक्ति होती है और स्वजन से सहज आसक्ति।

भगवान ने उद्धव गीता में अपने और अपनी भक्ति के बारे में बहुत विस्तार से अनेक बातें बताई, पर इस विषय का केवल एक स्थान पर संकेत भर किया है - व्रज के अपने आत्मीय जनों की आसक्ति का वर्णन करते हुए वे कहते हैं – गोपियां, गायें, यमलार्जुन आदि वृक्ष, व्रज के नाग, मृग आदि तो मूढ बुद्धि ही थे, वे कहां जानते थे कि मैं परमात्मा हूं, वे कहां जानते थे कि मेरी प्राप्ति के लिए साधना की जाती है। लेकिन वे ही नहीं, ऐसे ऐसे और भी बहुत हो गए हैं जिन्होंने **केवल प्रेम पूर्ण भाव** के द्वारा ही अनायास मेरी प्राप्ति कर ली और कृतकृत्य हो गए।(११.१२.८)

प्रेम का भाव तो गोपनीय होता ही है, सम्भवतः इसी लिए भगवान ने इसे कुछ कुछ छुपा ही लिया किंतु गोपियों को याद करते हुए श्रीकृष्ण कुछ बह ही जाते हैं – उद्धव, जिस समय अक्रूर जी बलराम भैया के साथ मुझे व्रज से मथुरा ले आए, उस समय गोपियों का हृदय गाढ प्रेम के कारण मेरे अनुराग के रंग में रंगा हुआ था। मेरे वियोग की

तीव्र व्याधि से वे व्याकुल हो हो रही थीं और मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु उन्हें सुखकारक नहीं जान पड़ती थी। तुम जानते ही हो कि मैं ही उनका एकमात्र प्रियतम हूं। उन्होंने रास की अनेक रात्रियां मेरे साथ आधे क्षण के समान बिता दी थी, परन्तु मेरे बिना उनका एक एक क्षण एक एक कल्प के समान हो गया था। वे गोपियां परम प्रेम के द्वारा मुझमें इतनी तन्मय हो गई थीं कि उन्हें लोक परलोक की सुध-बुध भी नहीं रह गई थी। उद्धव, उनमें तो बहुत सी ऐसी थीं जो मेरे वास्तविक स्वरूप को नहीं जानती थीं। वे मुझे भगवान न जानकर अपना प्रियतम ही समझती थीं और जारभाव से मुझसे मिलने की आकांक्षा किया करती थीं। उन सैकड़ों, हजारों साधनहीनों ने मुझे प्राप्त कर लिया था।(११.१२.९-१३)

बस इतना ही कहा और फिर उस उपदेश पर आ गए जो भगवद्गीता के परम उपदेश जैसा ही है, जहां उन्होंने अर्जुन को 'मामेकं शरणं व्रज' कहा था। यहां उद्धव जी को भी कहते हैं – उद्धव, तुम बस सर्वत्र सर्वदा मेरी ही भावना करते हुए समस्त प्राणियों के आत्मस्वरूप **मुझ एक की ही शरण**

सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करो, फिर किसी प्रकार का भय कहां रह पाएगा?

मामेकमेव शरणं आत्मानं सर्वदेहिनाम् ।

याहि सर्वात्मभावेन मया स्या हि कुतोभयः।।

(११.१२.१५)

भगवान ने गोपियों के नाम दो तीन श्लोक समर्पित किये, वृक्ष और गायों तथा अन्य पशुओं का भी नाम तो लिया, किंतु यशोदा मैया, नन्द बाबा, अपने सखा तथा अन्य प्रेमी जनों की बात तो पूरी की पूरी अपने अन्दर ही छुपा ली और श्री राधा रानी के प्रेम को तो शुकदेव जी ने ऐसा छुपाया है कि सम्पूर्ण भागवत में कहीं नाम तक नहीं लिया, क्योंकि वह नाम वाणी पर आते ही उनके प्रेम प्रवाह में वे ऐसे डूब जाते कि उनकी समाधि लग जाती । फिर राजा परीक्षित को कथा सुनाने का प्रयोजन कैसे पूरा होता?

कभी कभी पिताजी अपने बच्चे को कोई बहुत बढ़िया बहुत प्यारी सी वस्तु देना चाहते हैं तो मजे लेने के लिए उसे छुपा देते हैं और थोड़ा सा कुछ संकेत कर देते हैं पर न हाथ में देते हैं न स्पष्ट बताते हैं कि वह कहां रखी हुई है । बालक

इधर उधर ढूंढता है, कभी पिता के वस्त्रों में हाथ डालता है, कभी मेज पर खोजता है। कभी यहां, कभी वहां, कभी मां से पूछता है, कभी और किसी से। पिताजी को बड़ा आनन्द आता है और सच कहें तो बच्चे को भी बड़ा मजा आता है इस छुपा छुपी के खेल में। वह वस्तु सीधे उसके हाथ में धर दी जाती तो वह जैसा खुश होता उससे अनेक गुणा अधिक आनन्द उसे ढूंढ कर पाने में मिलता है।

इसी प्रकार हम बच्चों को treasure hunting का खेल खिलाते हैं तो एक बहुमूल्य वस्तु कहीं छुपा देते हैं और उसके विषय में बहुत सारे संकेत अलग अलग स्थानों पर छुपा देते हैं। बच्चे उन संकेतों को ढूढते हैं, उनकी कडियों को जोड़ कर कुछ समझने के लिए माथापच्ची करते हैं। कभी लगता है कि कुछ समझ में आया तो उसके अनुसार ढूंढने के लिए भागमभाग करते हैं, सफल नहीं होने पर फिर माथापच्ची करते हैं और ऐसा करते करते जब उस 'खजाने' को पा लेते हैं, तो आनन्द से भर उठते हैं। ढूँढने में भी आनन्द और पाने में तो परमानन्द!

तो चलें, भगवान से कौन सा संबंध बनाएं और कैसे बनाएं, इसके लिए ढूंढें कुछ संकेत, कुछ सूत्र। जहां जहां मिलने की संभावना है, उन सबको एकत्रित कर लें, फिर करेंगे माथापच्ची कि हम कैसे बढें।

उद्धव को स्पष्ट नहीं बताया तो अर्जुन को बताया होगा?

हां, ऐसा बताया था अर्जुन को -

पिताहमस्य जगतः माता धाता पितामहः, अर्थात् मैं इस जगत में सबका पिता हूं, माता भी हूं, धाता यानि धारण करने वाला भी हूं और पितामह भी हूं। इसी कड़ी में आगे भी कहा – गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृत्, अर्थात् मैं ही जीव की परम गति हूं। मैं उनका भरण पोषण करने वाला हूं, मैं उनकी हर बात का साक्षी हूं, मैं उनका निवास हूं, मैं उनका शरण दाता हूं, और हित करने वाला प्रिय मित्र हूं। इस प्रकार संबंधों के अनेक विकल्प देते हुए एक खास बात और कही कि जो जिस भाव से मुझे भजता है उसी अनुसार ही मैं भी उसे मानता हूं - ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अब देवर्षि नारद से भी पूछ लेते हैं, उन्हें भी कुछ अनुभव होगा। उनकी बात रामचरितमानस में ढूंढते हैं।

नारद जी को इन्होंने कहा था - मैं अपने भक्तों की मां हूं, 'करउँ सदा तिनकी रखवारी, जिमि बालक राखे महतारी' ।

अब जरा व्रज भी घूम आएं। वहां तो भगवान के साथ संबंध के बहुत रूप मिलेंगे । मैया-बाबा के वे लाला थे, सखाओं के कन्हाई थे, सखाओं की पत्नियों के वे देवर थे। उनकी नानी थी, ताई थी, चाची थी चाचा थे, अनेक दास दासियां थीं, व्रज के अन्य गोप गोपी थे, सबका अलग अलग भाव था, पर हर भाव उनके प्रेम से लथपथ! आसक्ति के अनेक प्रकार हमें उनकी व्रज लीला में मिलते हैं।

भगवान ने जब छुपा लिया तो हमारे लिए इस काल में खुलासा कौन करेगा - इसी काल के वे संत और भक्त जिनके हृदय इन भावों से भावित हैं। अतः इस विषय के लिए तो इनके चरणों की ही शरण लेनी होगी। उन्होंने भी तो उद्धव से यही कहा है कि मेरी कथा संतों के मुख से सुननी चाहिये। इस विषय में संतों से मैंने स्वयं जो सुना, पढा और जाना, उन्हें संयोजित करने का प्रयास कर रही हूं, क्योंकि treasure hunting का खेल भगवान ने मुझे वर्षों खिलाया है। इस कालखंड में विभिन्न संतों से जो सूत्र मुझे मिले उनमें से न

जाने कौन सा किसके काम आ जाए। कथा की पात्र भले ही मैं हूं, महत्व तो इन संकेतों का ही है।

श्री चक्र जी द्वारा लिखित 'गोलोक एक परिवार' अद्भुत है। इसे पढें तो आत्मीयता के सभी रंगों से एक साथ ही कान्हां के संग होली हो जाएगी।

पर अभी तो चलें चैतन्य महाप्रभु के पावन चरणों में। उनके रूप में तो भगवान श्रीकृष्ण स्वयं ही अवतरित हुए थे। वे उस महाभाव का आस्वादन करना चाहते थे जिसका अनुभव उनके प्रेम में श्री राधा रानी को होता था। वे गोपियों को प्राप्त होने वाले दिव्य प्रेम रस को भी स्वयं चख कर देखना चाहते थे। महाप्रभु का देह तो नर का था किंतु हृदय गोपियों और राधा रानी जैसा था। उनके अवतार का एक प्रयोजन 'कीर्तन-भक्ति' की प्रतिष्ठा भी था क्योंकि कलियुग में भगवत् प्राप्ति इसी के द्वारा संभव है।

परम पूज्य प्रभुदत्त ब्रम्हचारी जी द्वारा रचित, गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित 'श्री श्री चैतन्य चरितावली' एक अवश्य पठनीय ग्रंथ है। इसमें उत्कल प्रदेश के तत्कालीन शासक राजा रामानन्द राय के साथ महाप्रभु का संवाद है। रामानन्द

राय परम भागवत थे और महाप्रभु ने उनके मुख से विभिन्न आत्मीय भावों द्वारा भक्ति के रहस्य को प्रकट करने की लीला की। यह संवाद अत्यंत मधुर है जिसमें महाप्रभु कहते हैं - राय महाशय, मैं आपके मुंह से कुछ कृष्ण कथा सुनना चाहता हूं। आप मुझे बताइये कि कि इस संसार में मनुष्य का मुख्य कर्तव्य क्या है? आप ज्ञानी हैं, भगवद् भक्त हैं, इसलिए मुझे साध्य-साधन का तत्व समझाइये, अर्थात् मनुष्य को क्या पाना है और वह कैसे पाया जा सकता है?

राय महाशय तो जान रहे थे कि परम साध्य तत्व स्वयं ही उनके सामने खड़ा उनके मुख से अपने मन के भावों को प्रकट कराना चाहता है अतः वे महाप्रभु की आज्ञा के अनुसार तैयार हो गए।

उन्होंने आरम्भ किया सबसे पहली सीढी - वर्णाश्रम धर्म के पालन से। हम जहां हैं, जिस अवस्था में हैं, जो हमें करना है वह सब धर्म युक्त हो, शास्त्रों में बताई गई मर्यादा के अनुकूल हो। वास्तव में परमार्थ के पथ का पहला चरण तो अपने दैनिक जीवन और कार्य को धर्म युक्त बनाना ही है।

यात्रा का आरम्भ तो यहीं से सबको करना होगा। यह पहला सूत्र है।

फिर उससे आगे का साधन बताया - निष्काम कर्म। महाप्रभु उनकी भूरि भूरि प्रशंसा भी करते जाते और हर साधन की कुछ न्यूनता बताते हुए उससे उत्कृष्ट भाव भी पूछते जा रहे थे।

राय रामानन्द ने इससे उत्कृष्ट बताया शरणागति को। महाप्रभु ने सराहना करते हुए एक 'किंतु' इसमें भी लगा दिया कि यह सर्वश्रेष्ठ धर्म तो है, पर यह संसारी ताप से ग्रस्त साधक के लिए है। जो साधक इससे भी उच्च कोटि का है उसके लिए कौन सा साधन है?

फिर राय महाशय ने विशुद्ध भक्ति की बात कही और उसके बाद एक एक क्रम से आगे बढते हुए दास्य भाव की महत्ता बताई कि शांत, सख्य, वात्सल्य और मधुर - इन सभी रसों में छिपा हुआ दास्य भाव अवश्य रहता है। भक्त तो भगवान का दास होता ही है, एक माता अपने शिशु के लिए प्रसन्नता पूर्वक जो जो करती है वह तो कोई भी दासी नहीं कर सकती। सखा भी सब चाहते हैं कि हम अपने प्यारे मित्र

के लिए कुछ कर पाएं । पत्नी में तो सेवा का भाव प्रबल रहता ही है। इसीलिए वे कहते हैं –‘प्रभो, दास्य भाव तो स्नेह का स्वामी है । इसलिए दास्य भाव को मैं सर्वश्रेष्ठ समझता हूं’।

यह संवाद तो भगवान और भक्त की लीला है, अतः उन्हीं के मुख से महाप्रभु ने क्रमशः सख्य, वात्सल्य और फिरमधुर भाव अर्थात् भगवान को अपने परम प्रियतम के रूप में मानने को श्रेष्ठ साबित करते गए । इससे भी आगे की बात पूछने पर उन्होंने महाप्रभु के चरण पकड़ कर श्री राधिका जी के महाभावका वर्णन करने में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी ।

महाप्रभु ने प्रगाढ आलिंगन करते हुए कहा – राय महाशय, आपकी असीम अनुकम्पा से मैंने परम साध्य तत्व जान लिया । अब वह साधन बताइये जिससे इस महाभाव की प्राप्ति हो सके । तब राय महाशय ने उस गोपी भाव और गोपी प्रेम के तत्व को प्रकाशित किया जो अपने लिए कुछ नहीं चाहती । जिनकी सम्पूर्ण कामनाएं, भावनाएं और चेष्टाएं

तथा इन्द्रियों की समस्त क्रियाएं उन प्रिया-प्रीतम के सुख और उन्हें प्रसन्न देखने के लिए ही होती हैं।

इसी भाव संबंध से मेरा परिचय मेरी वृंदावन की सखी ने कराया था जिसकी चर्चा आरम्भ में ही की गई थी। यहीं से मेरे भी पागलपन की शुरुआत हुई थी। इसे ही सहचरी भाव भी कहते हैं।

गोपियों के तो अनेक प्रकार के भाव थे। कुछ का तो मातृ भाव था, वे लाला को गोद में बैठा कर दुलारना चाहती थी, कुछ का कांता भाव था, वे श्रीकृष्ण का चिंतन प्रियतम के रूप में करती थी, किंतु यहां राय महाशय ने परम साधन के रूप में केवल उनकी बात कही है जो बस प्रिया-प्रीतम के सुख में ही सुख का अनुभव करती हैं। ये सब राधा रानी की सखियां थीं। वैसे तो इन परम उदार ने कुब्जा तक को भी निराश नहीं किया।

हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता। इस प्रसंग में अनेक मुख्य भाव आए हैं, पर इनसे भी भिन्न अनेकानेक भाव हैं। अयोध्या के एक संत थे - उमापति जी। वे यह भाव रखते थे कि मैं रघुनाथजी का गुरु हूं। उस भाव से भावित हो कर वे

श्री राम प्रभु को पाठ पढाते थे, मंदिर मे अपनी पहनी हुई माला उतार कर पुजारी को देते कि रघुनन्दन को प्रसादी के रूप में धारण करा दो। भक्तमाल के प्रेमी संत उनकी कथा बड़ा रस ले कर सुनाते हैं और बताते हैं कि भगवान ने उनके भाव को किस आदर से स्वीकार किया।

बक्सर वाले रस सिद्ध संत श्री नारायण प्रसाद भक्तमाली जी को तो सारे भारत का संत समाज 'मामाजी' कहता था क्योंकि वे अपने को जगज्जननी सीता मैया का छोटा भाई मानते थे। एक बार स्वामी रामसुख दास जी ने उनसे पूछा कि आप उन्हें बड़ी बहन मानते हैं कि वे भी आपको छोटा भाई मान कर दुलारती हैं कभी? कहते हैं कि मामाजी अपने ऐसे प्रसंगों की स्मृति से इस प्रकार भाव विभोर और व्याकुल हो गए कि उनकी वह अवस्था ही उत्तर के लिए पर्याप्त थी। संतों के मुख से इन पावन कथा का श्रवण ही हृदय को भक्ति रस से सींच सकता है।

सबसे अनोखे तो हैं अपने तुलसी बाबा। उन्होंने तो अपने दैन्य से प्रभु को रिझा लिया। उन्होंने तो इन सब संबंधों से विलक्षण कितने संबंध गिना दिए –

तूं दयालु दीन हौं, तूं दानी हौं भिखारी।

हौं प्रसिद्ध पातकी तूं पाप पुंज हारी ।।

ब्रम्ह तूं हौं जीव तूं ही ठाकुर हौं चेरो।

तात मात बंधु सखा तूं सब विधि हितु मेरो ।।

नाथ तूं अनाथ को अनाथ कौन मो सों।

मो समान आरत नहीं आरतिहर तो सों ।।

इस प्रकार अनेक संबंध गिनाने के बाद सब कुछ श्री रघुनाथजी पर छोड़ दिया-

तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावे।

ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरण शरण पावे।।

ऐसी प्यारी चतुराई पर ठाकुर जी कैसे रीझे होंगे?

सच तो यही है कि संबन्ध तो उनके बनाए ही बनता है। उन्हें संबन्ध बनाना भी आता है और निभाना भी खूब आता है।

चक्र जी ने उनके सारे संबंधों का बखूबी वर्णन किया है, पर उनका अपना संबंध यह था कि कन्हाई उनका अनुज था

। यह संबंध कैसे बना, यह उनके जीवन चरित्र में प्रकट हुआ है ।

चक्र जी का बचपन सुख संपन्नता से भरापुरा था पर सबसे पहले तो उनके परम आत्मीय चाचा, और फिर एक एक कर प्यारी बहन, साध्वी माता, संत समान पिता भी संसार से विदा हो गए । रह गए किशोर अवस्था के सुदर्शन जी और उनका एक छोटा भाई । और मामा के पास रह रहा यह भाई भी संसार छोड़ चला तो उन्हें इसका संवाद मिला तार से। इससे आगे की बात 'चक्रचरितम्' से -

"तार पढते ही आंखों के सामने अंधेरा छा गया । एकमात्र वही तो था अपना कहने को । एकमात्र वही तो था अपना कहने को । मानवों से भरी मेदिनी पर वे अकेले हैं । नितान्त अकेले । क्या? कोई नहीं रहा अपना? इस सृष्टि में मैं अकेला हूं, बिलकुल अकेला । यह विचार आते ही जैसे पैरों तले पृथ्वी घूमने लगी, ब्रम्हाण्ड घूमने लगा । पीड़ा! तीव्रतम पीड़ा! पीड़ा अपने अंतिम छोर तक पहुंच गई । उन्होंने अनुभव किया – भाई नहीं, अपितु छाती चीर कर उन्हीं का

कलेजा निकाल दिया गया हो, अथवा हृदय में धधकते अंगारे भर दिये गए हों।

स्पष्ट लगा कि तीव्रतम अंतर्व्यथा से हृदय विदीर्ण हो जाएगा। उसी समय, ठीक उसी क्षण, जैसे हृदय में विद्युत लहरी सी कौंध गई। एक दिव्य शीतल स्निग्ध प्रकाश का प्रसारण होने लगा – उज्ज्वल स्निग्ध प्रकाश के मध्य आठ वर्षीय नव जलधर अनुपम सुंदर बालक दीखा उन्हें। ऐसे दीखा जैसे प्रत्यक्ष खड़ा हो सम्मुख। उसके लहराते मयूर पिच्छ, घुंघराली अलकों से ले कर चारु चरणों तक एक एक अंग प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे थे।

उसकी मंद मुस्कान निरखते ही जगत्, देह सब लोप हो गए.... उसने अपनी बड़ी बड़ी कमल की पंखुरी सी कोमल पलकें उठाई। बाल सुलभ वह भोली नजर!

मत्त हो गए सुदर्शन जी। उसने अपना दक्षिण कर पल्लव उठाया। सुदर्शन जी का वाम स्कन्ध स्पर्श करते हुए बोला – दादा, मैं तेरा छोटा भाई नहीं हूं? मुस्कुरा दिया धीरे से।

वह स्वयं ही किसी को न अपना ले तो मनुष्य का कितने भी समय का, कितना भी उत्कृष्ट साधन इसे अपना बनाने में

कहां समर्थ है? सुदर्शन जी का यह छोटा भाई कन्हाई क्या एकाध दिन के लिए आया है? यह तो सदा सर्वदा के लिए उनका हो गया। 'दादा, दादा' करते सदा उनके आगे पीछे घूमने वाला, पल पल उनका मुख देखता, उनकी इच्छा जान कर पूरी करने को तत्पर, उनका यह हंसता मुस्कुराता नन्हा सुकुमार कन्हाई!"

बस, इसके बाद तो दोनों एक दूसरे के हो लिये। चक्र जी ने स्वयं हर स्थान पर कहा है कि वे वही लिखते थे जो उनका कन्हाई लिखाता था या दिखाता था। उनके भाव राज्य की बातें और उनका साहित्य पढ पढ कर लालसा होनी स्वाभाविक ही थी कि अपना भी ऐसा कोई दृढ संबन्ध बन जाए उस परम उदार के साथ जो यह कहता है कि जो जिस भाव से मुझसे प्रेम करता है, मैं उसी भाव से उससे प्रेम करता हूं। त्वमेव माता च पिता त्वमेव..... नहीं नहीं! बस एक नाता, केवल एक!

उनके साहित्य को बार बार पढा। एक स्थान पर लिखा पाया – "मेरा बनना बिगड़ना कन्हाई के हाथ में सुरक्षित है। वह बतलाता नहीं तो मैं उसकी खोज अपने ढंग से ही तो

करूंगा। इसमें भूल की बहुत संभावना है, किंतु मैं भी तो विवश हूं"।

यही विवशता मेरी भी हो गई । एक बार गुरुदेव स्वामी चिन्मयानंद जी से सुना कि कन्हैया को सबसे प्यारी है अपनी मुरली । वे उसे सदा अपने साथ रखते हैं, एक क्षण को भी अलग नहीं करते । इसका कारण है कि मुरली पोली होती है, उसके भीतर उसका अपना कुछ भी नहीं, वह बस वैसे बजती है, जैसे कन्हैया उसे बजाते हैं । यदि हम मुरली की भांति समर्पित हो जाएं तो वह सदा हमें अपने हाथों में रखेगा, पर यदि हम अपनी ही कामना, अपने राग-द्वेष के राग बजाते रहेंगे तो वह हमसे कोई मतलब नहीं रखेगा ।

फिर उन्होंने कहा – 'Now think… Get lost in meditation.'

यह तो परम समर्थ गुरु की वाणी का ही प्रताप था - मैं सचमुच खो गई कुछ क्षण के लिए, और फिर मन की पकड़ में डोर का एक सिरा आ गया - हे घनश्याम, मुझे तुम अपने अधरों की मुरली बना लो । काफी लम्बा समय इस प्रार्थना में बीता, अच्छा भी लगता था, समर्पण का प्रयत्न भी किया,

पर कभी-कभी यह भी सोचती थी कि मुरली बनने के योग्य तो मैं हूं ही नहीं, बन भी नहीं पा रही। मेरा मन तो अपना ही फटा सुर बजाता रहता है, वे कैसे स्वीकार करेंगे ?

इस बीच एक बड़े ही अच्छे संत मिले। उनके चरणों में बैठ कर कुछ भगवत् चर्चा हुई तो उन्होंने तो कागज पर ही लिख कर दे दिया - 'कन्हैया लाल आपकी हर धड़कन को जानते हैं, पहचानते हैं। आप उनसे बिछुड़ कर भूल बैठी हैं, आपको एक एक बात याद आ जाएगी, आप उनकी गोपी जो हैं'।

अब क्या कहना था मेरा! मानो मन को पंख लग गए थे। लगने लगा कि सचमुच मैं तो गोपी ही हूं। फिर तो रास पंचाध्यायी, गोपी गीत आदि बहुत अच्छे लगने लगे। गोपी भाव के सभी संतों के पद गुनगुनाना बहुत भाता था। पर सोचने लगी - मैं कौन से भाव वाली गोपी हूं? कन्हैया को अपनी गोद में बैठा कर माखन खिलाने वाली, कि उसके संग रास करने वाली, कि.... कोई भी एक भाव, बस एक भाव अपने लिए नहीं मिल रहा था। स्व सुख की लालसा भी बनी ही हुई थी।

वृंदावन में कृपा विलास में विराजने वाले परम रस सिद्ध संत स्वामी सत्यानन्द जी महाराज तो न जाने क्यों, इस अधम पर बहुत कृपा करते थे । उनसे पूछा - महाराज जी, भगवान की भक्ति बड़ी उपलब्धि है कि उनसे अपनापन? मुस्कुरा कर धीरे से कहा – अपनेपन में कुछ तो खास बात है । देखो, यहां वृंदावन में सब ऐसे ही कहते हैं- **हमारे** विहारी जी।

उनके ठाकुर जी के दर्शन अनेकों ने किये होंगे । अद्भुत श्रृंगार होता था प्रतिदिन – एक शिला पर बैठे बछड़े को गलबहियाँ देते हुए गोपाल कृष्ण थे । उन्होंने अपना संबंध बताया - यह बछड़ा मैं हूं । फिर कुछ और अंतरंग बातें भी अनुग्रह कर के बताई।

उनकी छत्रछाया में भक्ति और आसक्ति का अंतर और स्पष्ट हुआ । भक्ति में भगवान के ऐश्वर्य और महिमा की महत्ता है, आसक्ति इनको परे हटा देती है, यहां तो बस अपनापन है ।

जैसे एक शांत भाव का उपासक प्रभु का चिंतन इस प्रकार करता है कि वे सारे जगत के पिता हैं, वे सबके पालनकर्ता हैं, वे ही सबको नचाते हैं, वे पतित पावन हैं, वे

दीनदयालु हैं, वे भक्तों के रखवाले हैं। इस प्रकार वह उनकी स्तुति गाते हुए उनकी वैसी वैसी लीलाओं का चिंतन करता है तो उसका हृदय भाव से भर उठता है। बिना प्रयत्न के ही उसका अंतरमन में यह भाव जम जाता है कि वे ही सब भक्तों के रखवाले हैं तो मेरी रक्षा भी वे ही करेंगे। उन्हीं के नचाए जग नाचता है, तो वे क्या नहीं कर सकते? इस प्रकार स्तुति करते हुए अनायास ही उसका मन एकदम शांत हो जाता है, उसे परम विश्राम मिलता है।

दूसरा उन्हें अपना पिता मानता है। उसे इससे मतलब नहीं कि वे **सारे जगत** के पिता हैं, वे **सबके** पालनकर्ता हैं, वे ही **सबको** नचाते हैं, वे **पतित** पावन हैं, वे **दीन**दयालु हैं, वे **भक्तों** के रखवाले हैं। उसके लिए तो – वे **मेरे** पिता हैं, वे **मेरे** पालनकर्ता हैं, वे ही **मुझे** नचाते हैं, वे ही **मेरे मन** को पावन करेंगे, वे **मेरे** प्रति बड़े दयालु हैं, वे **मेरे** रखवाले हैं। इस प्रकार उसका चिंतन प्रगाढ़ होता जाता है, वह अपने जीवन के प्रत्येक अनुभव को उनके साथ जोड़ देता है तो धीरे धीरे ये चिंतन उसके अनुभव बन जाते हैं और उसे लगता है कि उन्होंने तो मुझे अपनी गोद में उठा रखा है, जैसे अपने को

बछड़ा मानने वाले महाराज जी को लगता था कि ये गोपाल कृष्ण तो उन्हें अपनी बाहों में भरे रखते हैं। फिर और क्या चाह, कैसी चिंता, किसका भय! यह है **आसक्ति**।

भगवान ने गीता में पहले तो कर्म, ज्ञान, ध्यान से संबंधित सारी बातें छः अध्याय में बताई, फिर सातवें अध्याय में भक्ति की बात प्रारम्भ की तो पहला वाक्य यह कहा - मय्यासक्तमनाः पार्थः – हे पार्थ, तुम मुझमें आसक्त मन वाले बनो।

मेरी खोज तो यही थी कि उनसे आसक्ति किस भाव से हो जाए।

रमेश भाई जी के मुख से बिंदु जी का भजन सुना-

जो उस सांवले को सदा ढूंढता है।
उसे एक दिन सांवला ढूंढता है॥
जिसे ढूंढने का अमल पड़ चुका है।
वह इस ढूंढने में मजा ढूंढता है॥
जो इस ढूंढने में मजा ढूंढता है।

उसे एक दिन सांवला ढूंढता है ।।

जो पूछो पतित 'बिंदु' क्या ढूंढता है ।

पतित बंधु जी का पता ढूंढता है ।।

पतित बंधु का जो पता ढूंढता है ।

उसे एक दिन सांवला ढूंढता है ।।

मजा तो आ रहा था, सच बात तो है कि इस प्रकार इन बातों को याद करने में भी मजा बहुत आ रहा है । संतों के स्नेह की याद से मीठी याद और क्या हो सकती है?

वृंदावन में एक दिन भेंट हुई श्री गिरिराज नांगिया जी से । उन्होंने बहुत सी बातें खोल कर बताईं । उन्होंने कहा कि आप सहचरी भाव की बात करती हैं और ठाकुर जी की लीलाओं का दर्शन पाना चाहती हैं तो यह सब ऐसे ही थोड़े मिल जाता है? इसके लिए तो इस भाव के सिद्ध गुरु के अनुगत हो कर उपासना करनी पड़ती है । उन्होंने विस्तार किया कि गुरु देव आपको दीक्षा के समय एक भाव देह प्रदान करते हैं । उसी भाव देह से ही गुरु देव के आनुगत्य में रहते हुए ही सेवा की जाती है ।

उदाहरण से भी इस भाव राज्य के तौर तरीके बताए – ‘आपके भाव राज्य में प्रिया प्रीतम सुंदर आसन पर विराजमान हैं। एक कोने में आपके गुरु देव खड़े होंगे और उनके पीछे आप। लालजी ने प्यारीजू के लिए पान की बीरी उठाई। किंतु वह उनके हाथ से छूट कर गिर गई। अब वह नीचे गिरी हुई बीरी तो प्रियाजी को निवेदित नहीं की जा सकती। लाल जी आपके गुरु देव की ओर देखेंगे और गुरु देव के संकेत से आप पान की बीरी लेकर आएंगी। किंतु सीधे नहीं, आप गुरु देव को देंगी, गुरु देव ठाकुर जी को निवेदित करेंगे और ठाकुर जी अपने कर कमलों से श्री जी के मुख में देंगे। इस दर्शन का आपको सुख मिलेगा’।

मैंने पूछा, ‘इस काल में ऐसा समर्थ गुरु मुझे कहां मिलेगा’?

उन्होंने कहा –‘क्यों नहीं, अनेक संत हैं, आप श्री अच्युत लाल भट्ट जी के पास जा सकती हैं’।

ठाकुर जी का सबसे बड़ा अनुग्रह तो यह था कि वृंदावन में मुझे महान संत सेवी श्री पुरुषोत्तम लाल धानुका जी का संरक्षण और लाड दुलार मिला। उनकी निर्मल संत सेवा पर

सभी संत रीझे हुए थे अतः उनके साथ मुझे इन संतों का संग मिल जाता था । उन्हें मैंने यह सब बताया तो उन्होंने अनुमोदन भी किया और कहा कि भट्ट जी तो मेरे पास आते ही रहते हैं। उन्हें बुलाता हूं, जितना चाहो सत्संग करना।

वे आए और उनकी वाणी से बहती श्रीकृष्ण रस धारा ने तो भिगो दिया तन मन को। कई घंटे बीत गए और मुझे ऐसा लग रहा था कि बस ये कहते रहें और मैं सुनती रहूं।

तीन दिन इस प्रकार उनकी कृपा प्रवाहित हुई। उन्होंने मुझसे कहा कि आप केवल श्रीकृष्ण के नाम का जाप करती हैं, इससे नहीं बनती बात। आप श्री राधा जी का भी नाम जपें और उनके चरणों का आश्रय लें।

लौटने के बाद जब उनकी आज्ञा का पालन करने लगी तो श्री जी का ध्यान करते ही ऐसा भाव आया कि वे मेरी मां हैं।

चक्र जी की भांति मुझे कुछ 'दीखा' नहीं, बस 'लगा'। मुझे बहुत अच्छा भी लगा और कुछ कुछ भ्रमित सी भी हो गई। अगली बार वृंदावन गई तो निवेदन किया – महाराज जी, मुझे तो वे मां लगती हैं। यदि वे मां हैं तो मैं उनकी

निकुंज लीलाओं का चिंतन करने की अधिकारिणी बिलकुल भी नहीं हूं। उन्होंने भी अनुमोदन किया और कहा – आप उनके चरणों का आश्रय लीजिए, वे जो चाहेंगी आपसे करवा लेंगी।

‘वे मेरी मां हैं, और यह संबंध मैंने नहीं, उन्होंने बनाया है’ यह तो वही बात हुई जो संत कहते हैं - मो सम को बिगाड़बे को तुम सम को सुधारबे को।

या यूं कहें कि उन लीलामय की लीला थी कि जिस संत के माध्यम से सहचरी भाव प्रदान करवाते थे, उन्हीं संत के प्रसाद स्वरूप मुझे पुत्री भाव दिला दिया।

पर बड़ी उलझन सी भी लग रही थी कि अब मैं करूं क्या? पहले तो गाती थी, सुनती थी कि कुंज महल की सेवा करने की बात, उनको प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार की सेवा सुन रखी थी, इन भावों के अनेक गीत सुने भी, गाए भी, पर बेटी के रूप में अब उन्हें कैसे प्रसन्न करना है? किसी संत की वाणी में कोई वर्णन नहीं। किसी को मातृ भाव चाहिए तो वह यशोदा मैया से सीख सकता है, सखा भाव तो उनके अनेक सखा सिखा देंगे, सखी भाव हो तो ललिता जी,

विशाखा जी से सीखा जा सकता है, दास्य भाव से सेवा करनी हो तो हनुमान जी का आश्रय लिया जा सकता है, पर राधा रानी की बेटी का तो कहीं वर्णन ही नहीं ! अब तो रास गीत गाने में भी हिचक होती थी, लगता था कि गोपियां भी तो मेरी मां के ही समान हैं। उनके नामों में सबसे प्यारा मेरे लिए था – 'कन्हैया', अब कैसे गाऊं – कन्हैया कन्हैया पुकारा करेंगे? अपने पिता को ऐसे नाम लेकर पुकारा जाता है क्या?

परम पूज्य राजेन्द्र दास महाराज जी से सुना – भक्त दाम संग्रह करे सो बैठे हरि की गोद। मैंने चक्र जी के विलुप्त हो रहे साहित्य का संग्रह कर ब्लॉग पर डालना आरम्भ किया। महाराज जी के भक्तमाल प्रवचनों को सुन कर कुछ भक्त चरित्र भी लिख कर ब्लॉग पर डाले, जो समझ में आया वह करती रही, कुछ और समझने की कोशिश भी करती थी।

जब उन्होंने अपना ही लिया तो सारी उलझनों को सुलझाना तो उनकी ही जिम्मेदारी बनती ही है। परम पूज्य राजेश्वरानन्द महाराज जी के मंगलाचरण में स्पष्ट हुआ कि श्री

सीता राम जी को वे माता पिता ही समझते है, तो मैं पहुची उनके चरणों में।

महाराज जी से पूछा – मैं उन भजनों को नहीं गा पाती जो अब तक गाती आ रही थी। उन्होंने स्पष्ट कहा कि आप वही गाइये जो आपके भाव के अनुकूल हो। उनके प्रवचनों को सुनते हुए रामचरितमानस का चिंतन मनन करने से धीरे धीरे सारी गुत्थियां सुलझती गई क्योंकि जो मेरी राधा मैया हैं, वही तो सीता मैया हैं। तुलसी बाबा का भी उनके प्रति मातृ भाव है अतः रामचरितमानस में उन्होंने अनेक स्थानों पर श्री जी का वर्णन उसी भाव से किया है। अब तो बस – करना क्या, उनके चरणों में रहना है, करना तो सब उन्हें ही है।

सारी बातों का सार तो मुझे दो बातों में ही जान पड़ता है जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। पहली तो चक्र जी की बात – 'मेरा बनना बिगड़ना कन्हाई के हाथ में सुरक्षित है और वह बतलाता नहीं तो मैं उसकी खोज अपने ढंग से ही तो करूंगा। इसमें भूल की बहुत संभावना है पर मैं भी तो विवश हूं'।

या तो ठाकुर जी अपनी ओर से पहले ही बता दें कि अनन्त संबंधों में उन्होंने हमारे लिए क्या संबंध निश्चित किया है, नहीं तो हम अपने ढंग से संबंध बनाने का प्रयत्न करें। इसमें भूल की बहुत संभावना है किन्तु अपना बनना बिगड़ना सुरक्षित है उनके हाथों में। उनकी मर्जी वे जितना भटकाएं और मजे लें हमारे।

दूसरा हैं 'बिंदु' जी का मधुर आश्वासन -

जो उस सांवले को सदा ढूंढता है, उसे एक दिन सांवला ढूंढता है।

सर्वात्मा श्री हरि ही श्रीकृष्ण का मधुर, प्रेममय स्वरूप धारण कर हम पर अपने माधुर्य का खजाना लुटाने आए हैं, इस भाव से तो उनकी समस्त दिव्यातिदिव्य लीलाओं का रसास्वादन किया जा सकता है – कभी उन्हें बाबा के आंगन में वानरों को माखन रोटी खिलाते देख लें, कभी मैया के हाथ में छड़ी देख कर आंसू बहाते देख लें, कभी गोपियों को रिझाने के लिए ठुमकते देख लें, कभी बछड़े चराते कन्हैया, कभी सखाओं के साथ खेलते कूदते कन्हैया, कभी श्री राधा की मनुहार करते, कभी उनके सुकोमल चरणों में महावर

लगाते – वृंदावन विहारी की सभी की सभी लीलाएं मन को मोह लेने वाली हैं, प्रेम का उद्दीपन करने वाली हैं । इन लीलाओं को गाते सुनते, इनका रसपान करते करते ही यदि कभी बस ऐसी लगन लग जाए कि उनसे अपना एक विशेष संबंध बनाना है, बनाना ही है, तो पहले पहले तो बस इस भाव को पुष्ट करें –

हम तुम्हारे थे प्रभु जी, हम तुम्हारे हैं।

हम तुम्हारे ही रहेंगे ओ मेरे प्रियतम।

यह प्रियतम अर्थात् सबसे प्यारा हमारे लिए कोई भी हो सकता है, हमारा पति या पत्नी भी, हमारा बेटा या बेटी भी, हमारे माता पिता भी, हमारा सखा, बंधु, मित्र भी, हमारा भाई या बहन भी। वह एक सब कुछ बनने में समर्थ है - भगवान श्रीकृष्ण हमारी माँ - कितने मजे की बात है न! पर उन्होंने अपने मुख से कहा है तो संदेह का प्रश्न ही नहीं है। इस विषय में मेरी धारणा तो यह बनी है कि मां बनने के लिए, इस संबंध को अधिक भावमय बनाने के लिए वे अपनी ड्रेस भी बदल लेते हैं। पीत पट के स्थान पर लहंगा चुनरी ओढ कर सीता या राधा बन जाते हैं। इसीलिये तो संत कहते हैं कि ये युगल

एक ही हैं, लीला के लिए दो रूप धारण किये हैं। बलिहारी इनके वात्सल्य पर!

हमारी लालसा होगी तो ठाकुर जी के पास बहुत युक्तियाँ हैं हमें अपना बनाने की। विदेश में बसे एक युवक ने मुझे बताया कि वह अकेला ही रहता था, अभी विवाह भी नहीं हुआ था। किसी मित्र के माध्यम से उसे श्रीकृष्ण-बलराम के विग्रह प्राप्त हुए और – 'उन्हें हाथ में लेते ही मुझे ऐसा लगा कि ये मेरे बच्चे हैं और मैं इनकी मां हूं'। पिता नहीं, मां! क्या यह संबंध सोच विचार कर बनाया जा सकता है? संबंध बनाने वाले तो वे ही हैं, पर कभी तो वे इस प्रकार किसी पर अनायास कृपा कर देते हैं, कभी भक्त की उछलकूद उन्हें प्यारी लगती है। यही बात मुझे व्रज विभूति श्री श्याम दास जी ने यह कहके समझाई थी कि भगवत् प्रेम की प्राप्ति का एक मात्र मोल है – लौल्यं, अर्थात् उत्कट लालसा। इसी बात को श्री हित अम्बरीष जी बड़े ही मधुर शब्दों में प्रस्तुत करते है - जब हम तरसते हैं तो घनश्याम बरसते हैं।

हमें भी स्वतंत्रता है कि हम अपनी भावना के अनुसार संबंध चुनें। या तो वे 'ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव

भजाम्यहम्’ के वचन के अनुसार उसे तुरंत स्वीकार कर लेंगे, या कुछ खेल खिलाते हुए भूल सुधार कर देंगे।

इस विषय पर भी चक्र जी की ही बात याद आती है कि संबन्ध ऐसा चुनना चाहिए जो हमारी भावनाओं के अनुकूल हो, और जिसकी हमें लालसा हो। फिर अपनी ओर से जो संबंध चुना उसे पूरी तरह निभाना चाहिए। वे अपने कन्हाई का सिंगार कर प्रणाम नहीं करते, आशीर्वाद देते थे। छोटे भाई की वधु के सामने कैसे जाया जाए, यह सोच के बरसाने जाते भी थे तो श्री जी के मंदिर नहीं जाते। श्री जी ने भी उनके भाव का आदर किस प्रकार किया यह स्वयं पढ कर जानें।

हम उन पर अपना वात्सल्य लुटाना चाहते हैं कि उनका वात्सल्य पाना चाहते है? दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकती।

इस विषय में गुंसाई विट्ठलनाथ जी की कथा संत बड़े भाव से सुनाते हैं। वे ठाकुर श्रीनाथ जी को अपना लाला मानते हुए लाड लडाते थे। एक दिन उन्हें शयन करा कर स्वयं बाहर बैठे माला फेर रहे थे, ठाकुर जी आ गए - बाबा, यह बिल्ली का बच्चा मुझे डरा रहा है, इसे भगा दो। गुसांई

जी ने भगा तो दिया किन्तु उनके मन में आया कि इतने राक्षसों को मारा, उनसे तो भय नहीं लगा और अब एक बिल्ली के बच्चे से डर रहे है!

ठाकुर जी ने स्वप्न में उनसे कहा – बाबा या तो मुझे भगवान मानो या अपना लाला मानो। दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकती।

ऐसी मीठी मीठी कथाएं तो राजेन्द्र जी सरीखे रस सिद्ध संतों के मुख से ही सुनने योग्य हैं, इस प्रकार संक्षेप में पढ़ने पर वैसा आनन्द नहीं आ सकता, पर संदेश यही है कि संबन्ध बने तो ऐसा दृढ संबन्ध बने।

एक बात बड़ी महत्वपूर्ण है कि संबन्ध कोई भी अधिक अच्छा या कम अच्छा नहीं होता। महत्व तो संबन्धी का है। परिपूर्ण के साथ के सारे संबंध परिपूर्ण ही होते हैं, अपनी औकात क्या है? हम यदि संसार से भयभीत हैं तो हमें कोई चाहिए जिसकी छत्रछाया हमें निश्चिंत बना दे, तो ऐसा तो भगवान ही कर सकते हैं। जैसे पहले चर्चा की जा चुकी है कि हम भगवान की शांत भाव की उपासना कर सकते हैं, वह भक्ति है। इसमें भगवान के ऐश्वर्य की स्मृति बनी रहती है कि

वे सारे जगत के संचालक हैं। वे सारी सृष्टि का पालन करने वाले हैं। वे दीनदयालु हैं वे पतित पावन हैं। वे सब पर कृपा करते हैं तो मुझ पर भी करेंगे। फिर मैं क्यों चिंता करूं?

लेकिन इनकी महिमा और ऐश्वर्य को भूल कर एक आत्मीय संबन्ध चाहते हैं तो समझ में आता है कि ऐसी निश्चिन्तता का अनुभव तो जब हम अबोध थे तो माता-पिता की गोद में ही मिला था, अतः हम उनके बालक बन कर रह सकते हैं। जगतपिता को 'अपना पिता' मानना ही 'भक्ति' को 'आसक्ति' में बदल देता है। यदि हम इसलिए व्याकुल हैं कि कोई संतान नहीं, तो वे बडे मजे से हमारे बालक बन जाएंगे। किसी को भाई की बड़ी लालसा होती है, किसी को बहन की -वे सभी प्रकार से हमारे पास आ सकते हैं, हमसे कोई भूल हो गई हो तो सुधार भी देंगे, बस चाह हो, लालसा हो कि वे हमारे ऐसे आत्मीय बन जाएं कि मन उनमें आसक्त हो, भावनाओं की डोर बंध जाए, बस उनसे ही बंधी रहे, तन भले संसार में रहे, मन तो उनसे ही जुड़ा रहे।

वे अवश्य कृपा करेंगे, अवश्य हमें अपने आत्मीय के रूप में स्वीकार करेंगे।

मुझे तो केवल उस भाव का ही कुछ अनुभव है जिस भाव से उन्होंने मुझे अपनाया । मुझे तो लगता है कि हम निर्बल, दुर्बल, मायाबद्ध जीवों के लिए तो बाल भाव ही सबसे अधिक अनुकूल है । इसके विषय में तो श्री स्वामी गोविंद देव 'गिरि' महाराज जी के ही श्री मुख से सुना कि इसे 'लालन भाव' कहते हैं । वात्सल्य में तो भगवान हमारे बालक होते हैं और लालन में हम उनके बालक होते हैं । इसमें सबसे बड़ी सुविधा तो मुझे यह जान पड़ती है कि हमें उन्हें कैसे प्रसन्न करना है, यह हम अपने घर में ही, अपने बच्चों से सीख सकते हैं । अपनी घर गृहस्थी में रमे हम अपने छोटे छोटे बालकों को देख देख जीते हैं, उन पर रीझते रहते हैं। अब चिंतन करें कि बालक की कौन कौन सी क्रियाओं से हम बहुत प्रसन्न होते हैं । बस हम वैसे ही बन जाएं जैसा हम उन्हें देखना चाहते हैं । कितनी सारी बातें हैं, कहां तक लिखी जाए । कोई आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि निश्चित रूप से आपके पास मुझसे अधिक बातें होंगी बताने को । बस आवश्यकता अपने चिंतन को जागृत करने की है । फिर लीला दिखेगी अपने बेटे-पोते की और चिंतन होने लगेगा

अपने इन माता पिता का। जीवन खिल उठेगा। जो आसक्ति हमें पल पल कभी सुखी करती रहती है, वह इनके पावन चरणों का स्पर्श पाकर परम विश्राम प्रदायिनी हो जाएगी।

दूसरा लाभ यह है कि अपना, विशेष कर महिलाओं का अपना एक अनुभव बड़ा काम आएगा। एक सुलक्षणा कन्या जब विवाह कर ससुराल जाती है तो वह सहज रूप से सेवा तो करती है अपने सास-ससुर की, किंतु उसकी अपनी आत्मीयता तो अपने माता पिता से ही होती है। हमें अभ्यास पड़ा हुआ है, संस्कार ऐसे ही पड़े हुए हैं कि कहीं कोई दुविधा नहीं होती । ये संस्कार और अभ्यास बहुत काम आएंगे। हम उनसे आत्मीयता रखते हुए संसार के दायित्व और धर्म का निर्वाह बड़ी आसानी से कर सकते हैं।

भगवान ने गीता में समस्त ज्ञान के बाद एक परम उपदेश दिया है – शरणागति का। बाल भाव के साथ शरणागति तो बड़ी स्वाभाविक हो जाती है। बालक तो अपनी मां के प्रति पूर्ण समर्पित होता ही है और मां की गोद में निश्चिंत हो जाता है, उसे 'मा शुचः' कहने की आवश्यकता ही नहीं।

लेकिन भगवान श्रीकृष्ण से वात्सल्यमयी आसक्ति और अनुरक्ति के प्रभाव को जैसा मैंने एक संत में वर्षों तक देखा है, उसकी बात बनाए बिना तो यह मधुरातिमधुर चर्चा अधूरी ही रह जाएगी। ये हैं मुझे कन्हैया की रूप माधुरी और लीला माधुरी के गीत सिखा कर भक्ति की बेल को प्रेम रस की धारा से सिंचित करने वाले श्री नारायण दास 'गुरुजी' जिन्होंने मुझे लगभग पच्चीस वर्ष भजन सिखाए।

वर्ष १९९३ में उनसे सीखना आरम्भ किया तो भजन के भाव में वे जिस प्रकार डूब जाते थे और मुझे भी डुबाने का प्रयत्न करते थे, उससे ही उनके भाव की बड़ी जल्दी पहचान हो गई और एक विशेष अंतरंगता स्थापित हो गई। उन्होंने बताया कि उनके कोई पुत्र नहीं हुआ तो परिवार वाले एक और विवाह करने की बात कहने लगे। दबाव ऐसा हो गया कि उनकी पत्नी भी कहने लगी कि आप एक और विवाह कर लीजिए। एक दिन इसी परेशानी में घर से निकले और बालगोपाल का एक विग्रह ले आए। पत्नी से कहा – देखो दूसरी पत्नी से पुत्र मिला तो तुम्हारी दुर्गति ही दुर्गति है, और इसे बेटा मान लोगी तो तुम्हारा उद्धार है। पत्नी ने भी

स्वीकार कर लिया और ठाकुर जी सचमुच उनके बेटा ही बन गए। उनकी लीलाएं चलने लगीं। एक दिन बताया – 'आज निकलने लगा तो साइकिल के सामने खड़ा हो गया – बाबा मुझे भी ले चलो अपने साथ। मैंने बहुत समझाया कि मुझे अपने कर्म क्षेत्र में जाने दो, तुम्हें ले कर कहां कहां घूमूंगा, पर वो माने ही नहीं। बस साइकिल के सामने खड़ा होकर जिद करे। हम साइकिल इधर घुमाएं तो इधर आ जाए, उधर घुमाएं तो उधर हो जाए। हमको इतना गुस्सा आ गया कि बोले – मानोगे नहीं! अब आज तो हम तुमको चिपिये देंगे। तब अंदर चला गया। पर अब हमको अच्छा नहीं लग रहा, उसको बहुत जोर से डांट दिया था'।

कभी उन्हें लगता था कि रात में राधा को बहुत परेशान कर रहा है। 'किच किच से नींद खुल गई तो दोनों को अलग अलग अपने दोनों ओर सुला लिया। लेकिन वह इतना नटखट है कि मेरे पेट पर चढ कर इधर आ गया और उसे छेड़ने लगा'।

दुलारते भी बहुत थे और डांटते भी बहुत थे। जब भी आते, उनके पास कोई न कोई कथा होती ही थी। कभी कभी

कोई धुन सुनाते जो उनके कान्हां ने रात को बांसुरी में सुनाई थी। वे कहते कि मैने रात में उसी समय उठकर उसकी सरगम लिख ली ताकि भूल न जाऊं।

मैं बड़े विस्मय से उनकी बातें सुनती। कभी अपनी बेटी को बताती तो उसे कोरी गप लगती थी। एक बार मेरा वृंदावन जाना हुआ तो उन्होंने कहा कि मेरा गोपाल तो पत्नी के पास गांव में रहता है, उसका एक रूप मेरे पास भी होना चाहिए। आप वृंदावन से एक विग्रह ला दीजिएगा। मुझे तो बहुत ही खुशी हुई और मैंने एक प्यारा सा विग्रह और वस्त्र, आभूषण आदि भी ले लिए। पर मुझे तो कुछ दिन वहां रुकना था और इनको तो विरह सताने लगा। घर पर आए, बेटी से पूछा - मां कब आएगी? फिर अपने अनदेखे लाला के लिए पूछने लगे। उस समय उनकी मुखाकृति, उनका भावावेश, उनकी तड़प, उनका प्रेमोन्माद आदि उसे प्रत्यक्ष देखने को मिले। तब उसे स्वयं समझ में आया कि उनकी बातें कोरी गप नहीं होती।

जीवन काफी कष्टों से भरा हुआ ही था, किंतु कभी कष्टों को दूर करने की प्रार्थना नहीं की, हां कभी अधिक परेशान

होते थे तो डांट जरूर लगा देते थे। काफी वृद्ध हो चुकने पर भी साइकिल चलाते । बहुत बार गिर जाते, काफी चोट आती। बहुत तकलीफ पाते । सेवा करने वाला कोई नहीं, खिलाने पिलाने वाला कोई नहीं। नित्य का भजन साधन भी संभव नहीं। एक बार बताया कि ऐसे में उनका नटखट आ खड़ा हुआ – बहुत भूख लगी है। उसे कुछ खरीखोटी सुनाई और मुड़ी दी खाने के लिए । फिर व्यंग्य से पूछा - कैसा लगा? उसने हंसते हुए कहा – आज यही खाने का मन हो रहा था।

कभी कभी उससे कहते – 'अच्छा, तुम मुझे दवा खिला कर मजा ले रहे हो? चलो, खाओ तुम भी'। अपनी दवाएं ही उसके सामने रख देते थे। अनेक घटनाएं हैं ऐसी।

अब तो बहुत ही वृद्ध हो चले हैं । कभी अपनी उम्र बताई नहीं, पर तीस वर्ष पहले भी वृद्ध ही थे, तो उम्र नब्बे से तो अधिक है ही। आज ही आए प्रसाद लेकर। बोले - एक दिन मन में आ गया कि उसकी पूजा करूंगा। फिर तो पीछे ही पड़ गया। रात में सोने ही न दे – कब पूजा करोगे, कब पूजा करोगे ?

उनके शरीर का कष्ट और मन का आनन्द देख कर मुझे लगा कि उनकी ये बातें तो अवश्य ही भाव-भक्ति चाहने वालों को बताऊं। ऐसी भक्ति के तो इतने निकट से दर्शन भी अति दुर्लभ है। ठाकुर जी की विशेष कृपा है मुझ पर।

पर बात अंत में तो बात यहीं ठहरेगी-

तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरण शरण पावै ॥

***

श्री कृष्णः शरणं मम

उद्धव गीता

विदा

श्री मद् भागवत के एकादश स्कंध के छठे अध्याय से उद्धव गीता का प्रसंग आरंभ हुआ था। अट्ठाईसवें अध्याय तक उद्धव जी प्रश्न पूछते गए और भगवान उत्तर देते गए। हमने भी इनमें से कुछ ऐसी बातों को थोड़े विस्तार से देखा जो हम गृहस्थ साधकों के लिए विशेष उपयोगी हैं।

अब कुछ समझना बाकी नहीं रहा। उद्धव जी भगवान के प्रेम में छके उनकी स्तुति करने लगे –

"हे कमलनयन, अधिकांश योगी जब बार बार चेष्टा करने पर भी मन को एकाग्र करने में सफल नहीं हो पाते तो वे दुखी हो जाते हैं, अथवा कुछ सफलता मिल जाने पर ये

योगी और कर्मी अपने साधन के घमंड में फूल जाते हैं। अवश्य ही आपकी माया उनकी मति हर लेती है।

लेकिन जो आपके चरणों की शरण लेते हैं, माया उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती क्योंकि उन्हें योगसाधन और कर्मानुष्ठान का अभिमान नहीं होता। वे अपने साधन का बल नहीं रखते, आपकी कृपा का ही आश्रय लिये रहते हैं।

हे प्रभो, आप तो अपने भक्तों पर केवल कृपा ही नहीं करते, आप तो अपने अनन्य शरणागत भक्तों के अधीन ही हो जाते हैं। आप बलि के अधीन हो कर उसके द्वारपाल बन गए, आपने रामावतार में प्रेमवश वानरों से भी मित्रता का निर्वाह किया। हे प्रभो, आपने बलि, प्रह्लाद आदि अपने भक्तों को जो कुछ दिया है, उसे जान कर कोई आपके चरणों को छोड़कर तुच्छ विषयों में ही फंसा कर रखने वाले भोगों को क्यों चाहेगा, यह बात किसी प्रकार मेरी बुद्धि में ही नहीं आती।

हे भगवन्, हम तो आपके चरण कमलों की रज के उपासक हैं। हमारे लिए दुर्लभ कुछ भी नहीं, क्योंकि आप ही अन्तःकरण में अन्तर्यामी रूप से और बाहर गुरु रूप से स्थित

होकर भक्त के सारे पाप-ताप मिटा देते हैं और अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर देते हैं। वे आपकी कृपा का स्मरण करके क्षण क्षण अधिकाधिक आनन्द का अनुभव करते रहते हैं"।

परम भागवत उद्धव जी ने भगवान का यश गाते हुए संक्षेप में हम लोगों के लिए पुनः कुछ संदेश दिये हैं। पुनः उन्होंने बता दिया कि ज्ञान, कर्म और योग मार्ग के साधक को अपनी साधना का बल होता है, और भगवान के प्रेमी भक्त को उनकी कृपा का। एक ओर सर्वथा असमर्थ, दुर्बल, अपने राग-द्वेष, भोगों और विषयों के थपेडे खाते मायाबद्ध मनुष्य की शक्ति है, दूसरी ओर वे भगवान श्रीकृष्ण हैं जो सर्व समर्थ हैं, जो माया के स्वामी हैं, साथ ही वे शरणागत वत्सल हैं और भक्तों पर करुणा करने वाले हैं।

श्री हित अम्बरीष जी की वाणी से एक बात सुनी जो मन को बहुत छू गई। वे कहते हैं कि विचार कीजिए – 'संसार का विस्मरण कठिन है या प्रभु का स्मरण ....प्रभु का स्मरण तो फिर भी कुछ कुछ अपने प्रयास से किया जा सकता है, पर संसार का विस्मरण तो हम अपने प्रयास से कर ही नहीं

सकते। इसके लिए तो श्रीकृष्ण की कृपा करुणा की आवश्यकता है’।

भगवान तो अपार करुणा के सिंधु हैं। वे कहते हैं – सब मम प्रिय सब मम उपजाए। उनकी सामान्य कृपा तो सब पर बरसती है। सबको प्रकाश, जल एवं जीवन निर्वाह के साधन समान रूप से उपलब्ध कराए हैं उन्होंने। चींटी से लेकर हाथी तक की व्यवस्था है उनकी बनाई प्रकृति में। किंतु किसी भी दयालु दाता से कुछ विशेष कृपा चाहिए तो उसके पास जाना पड़ता है। संसार जैसा है वैसा ही भोगना है तो कोई आवश्यकता नहीं है उनकी शरण में जाने की, लेकिन इससे प्रसन्न नहीं और इसमें रहते हुए इसके ताप से बचना चाहें, इसका चिंतन यदि दुख दे रहा अतः चिंतन से बचना चाहें तो उनके **पास** तो जाना ही होगा न!

साधना तो बस उनके पास जाने के लिए है – रिक्त चित्त हो कर, खाली घट लेकर। बस यही करना है – फिर तो कृपा का सिंधु इसमें भी प्रवाहित होगा ही। कितनी सीधी सी बात है!

इसीलिये उद्धव जी कहते हैं कि मेरी बुद्धि में यह बात आती ही नहीं कि यह सब जानते हुए भी कोई उनकी शरण में आए बिना कैसे रह सकता है ।

उद्धव जी ने बड़ी शालीन भाषा का उपयोग किया है, किन्तु भाव तो यही है कि सब कुछ जानते हुए भी उनकी शरण में न जाए वह तो पागल ही है ।

परम श्रद्धेय चक्र जी ने 'कन्हाई' में लिखा है –

''सौभाग्य वश मुझे एक पागल को देखने का अवसर मिला। उसने पता नहीं कितने दिनों से स्नान नहीं किया था । उसके शरीर पर लिपटा चिथड़ा दुर्गन्धि दे रहा था । शरीर पर फुन्सियां हो गयी थी । तीन तगड़े लोगों ने उसे पकड़ रखा था। पागल चीख चीख कर रो रहा था और हाथ पैर पटक रहा था। उन लोगों ने उसके शरीर के चिथड़े को फाड़ फेंका । सीधे उतारना कठिन था क्योंकि पागल ने पूरी शक्ति से उसे लिपटा रखा था । पागल को उन लोगों ने रगड़ रगड़ कर धोया । उसे नंगा कर उसके शरीर से मैल की तह छुड़ा रहे थे । इस पूरे समय पागल रोता तड़पता रहा । उसे स्नान से स्वच्छ

कर कोई तेल लगा दिया और स्वच्छ नवीन कपड़े पहना दिये.....वे उस पागल के प्रति निष्ठुर थे या दयावान?

चेतन जीव कन्हाई का अपना है। कठिनाई यह है कि यह पागल हो रहा है। यह चिथड़े को लिपटाए हुए है और उन्हीं चिथड़ों के मोह से दुखी है। अपनी स्वच्छता का प्रयत्न स्वयं तो क्या करेगा, कन्हाई करता है तब भी यह उसे दारुण पीड़ा मान कर रोता चिल्लाता है"।

एक अन्य स्थान पर लिखते है – "अद्भुत है यह जीव भी। यह एक ओर प्रार्थना करता रहता है कि मेरा उद्धार करो, मुझे जन्म मरण के चक्र से बचा लो, साथ ही दूसरी ओर यह भी चाहता है कि इसके बंधनों को कोई स्पर्श न करे। सम्भव हो तो और बन्धन जुटा दे। अब जो इन्हें छुड़ाने चला है, उस जनार्दन को इस मूढ दुराग्रही के प्रति निष्ठुर बनना होगा कि नहीं? उसकी यह निष्ठुरता उसकी अनन्त कृपा का ही एक रूप है"।

उद्धव जी ने बड़ी सुंदर बात कही कि भगवान के चरण कमलों के उपासक के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है क्योंकि वे

अन्तःकरण में अन्तर्यामी रूप से और बाहर गुरु रूप से स्थित होकर भक्त के सारे पाप ताप मिटा देते हैं।

'कर्म योग' अथवा निष्काम कर्म को साधना मान कर पूरे लगन से उसका अनुष्ठान करना तो साधना का पहला चरण है, लेकिन इसके साथ शरणागति का भाव अत्यंत आवश्यक है। कर्म के साथ शरणागति को ही भगवान ने भागवत धर्म कहा है।

भगवान के चरणों का आश्रय लेते हुए ही कर्म करना,

उनकी प्रसन्नता के लिए ही कर्म करना,

उन्हें अर्पण करते हुए ही कर्म करना।

ये तीनों बातें होती हैं तभी मन निर्मल होता है। इनके बिना निष्काम कर्म केवल अभिमान बढा कर अन्तःकरण को और भी मलिन कर देता है। मन कुछ स्वच्छ, पवित्र और शांत होता है तब हम अनुभव कर पाते हैं कि वे ही हमारे अन्तःकरण में स्थित होकर हमें समझाते बुझाते हैं और हमारा ताप मिटाते हैं। संसार के ताप में जलता मन शीतलता का अनुभव करता है।

बहुत बार हम अपने अन्तःकरण की बात सुन समझ नहीं पाते, लेकिन उन्होंने तो हमारी मलिनता को दूर करने की ठान ही रखी है अतः वे बाहर से संतों के मुख से भी हमें अनेक प्रकार से समझाते हैं। श्री हित अम्बरीष जी के मुख से जब मैंने यह वाक्य सुना – **'यह संसार उलझने के लिए नहीं है, यह तो अपने उलझे हुए मन को सुलझाने के लिए है',** तब उस समय तो मुझे स्पष्ट अनुभव हुआ कि आज तो ठाकुर जी ने ही उनके मुख से मुझे यह बात कही है। तब से न जाने कितनी बार इस सीख ने मुझे संसार की ज्वाला में कूदने से बचाया है।

फिर एक अन्य प्रवचन में और अधिक विस्तार से बताया - **'संसार से भी नहीं उलझना और संसार में भी नहीं उलझना। संसार को तो समझना है'।**

संसार को समझ कर ही उलझने से बचा जा सकता है।

समझना यही है कि संसार में सुख है तो अवश्य, किंतु स्थायी नहीं है, दुख तो क्लेश देता ही है, सुख भी कम उद्विग्न नहीं करता। दोनों ही हमें बंधन में डालते हैं। किसी के हाथ पैर बंधे हों तो उसकी पहली इच्छा यही होगी कि उसके

बंधन टूट जाएं। हमारा यह बंधन इतना विचित्र है कि हम इसे बंधन समझ भी नहीं पाते, पर मन में एक छटपटी भी होती है, कितना भी कुछ मिल जाए, मन को विश्राम नहीं मिलता, क्योंकि उसे वह नहीं मिल पाया है जो वास्तव में उसे चाहिए। संसार से सुख या दुख तो मिल सकता है, किंतु विश्राम नहीं मिल सकता।

एक और बड़ी सुंदर बात कहते हैं –**'संसार को समझो और व्यवहार करो, व्यापार करो, निर्वाह करो । सब कुछ करो, किंतु बात जहां प्रेम की आ जाए, तो प्रेम तो बस श्रीकृष्ण से ही किया जा सकता है। वे ही हैं जिन्हें वास्तव में प्रेम करना भी आता है और निभाना भी आता है'।**

संसार में भी कभी-कभी प्रेम की छटा दिखाई पड़ती है लेकिन श्रीकृष्ण जैसा प्रेम कोई नहीं कर सकता। उनके जैसा प्रेम का निर्वाह करना किसी को नहीं आता।

सचमुच हम अनेक बार व्यर्थ ही संसार के संग उलझते हैं, प्रायः तो अपनी मनवाने के लिए या अपने को सही सिद्ध करने के लिए। श्री हित अम्बरीष जी ने सिखाया कि **यह**

संसार माया नहीं खिलौना है जो ठाकुर जी ने हमें खेलने के लिए दिया है। इससे हमें खेलना है, पर रमना नहीं है। किसी खेल को भी यदि हम बहुत गम्भीरता से ले लेते हैं तो उसका रस चला जाता है। हमारे देश में क्रिकेट के ऐसे ऐसे फैन हैं जो मैच जीतने पर खूब उछलते कूदते हैं, और कभी यदि बहुत बुरी हार हो गई तो सोशल मीडिया पर कितनी कड़वाहट बिखेरते हैं कि पढ कर हमें ही दुख होता है, उस कैप्टन के दुख की तो क्या कहें जिसे खरी खोटी सुनाई जाती है।

उद्धव जी के इन मधुर भावों को संजोता एक पद है –

जो चाहें ठाकुर हमें देना सोई सोई देवें।
सब भांति समरथ वे अपने उनकी गोद में खेलें॥
उनसा न कोई जाननहारा किसमें हित है हमारा।
गायों का गोपाला वो है भक्तों का रखवारा॥
प्रीत की रीत भी वे ही जानें हम हैं उनके हवाले।
मातु पिता गुरु बंधु बन कर प्रेम लुटाने वाले॥
उर अंतर में बस कर वे ही अपना नाम जपावें।

जग के सारे बंधन काटें अपने कंठ लगावें ।।

उद्धव जी की स्तुति सुन कर भगवान मन्द मन्द मुस्कुरा कर बड़े प्रेम से कहने लगे – उद्धव, मैं फिर से संक्षेप में अपने भागवत धर्म का उपदेश करता हूं जिनका श्रद्धापूर्वक आचरण करके मनुष्य संसार रूप दुर्जय मृत्यु को अनायास ही जीत लेता है ।

हम तो अब तक भगवान के बताए इस भागवत धर्म को विस्तार से देख ही रहे थे किन्तु विदा लेने से पहले एक बार संक्षेप में बताई गई बातों को देख लेने से बहुत लाभ होगा।

भगवान कहते हैं – 'उद्धव, मेरे भक्त को चाहिए कि अपने सारे कर्म मेरे लिए ही करे और धीरे-धीरे उनको करते हुए मेरे स्मरण का अभ्यास बढाए । कुछ ही दिनों में उसके मन और चित्त मुझमें समर्पित हो जाएंगे । उसके मन और आत्मा मेरे ही धर्मों में रम जाएंगे ।

मेरे भक्त साधुजन जिन पवित्र स्थानों में रहते हों वहां रहें और जो मेरे अनन्य भक्त हों उनका अनुसरण करें । पर्व के अवसर पर सबके साथ मिलकर या अकेले ही नृत्य, गान, वाद्य आदि के साथ महोत्सव मनाएं'।

भक्ति भाव के प्रारम्भ की इन बातों को याद दिला कर भगवान अब उच्चतम अवस्था का पुनः वर्णन करते हैं जिसे हम 'भगवद् दर्शन' अध्याय में देख चुके हैं।

भगवान कहते हैं – 'शुद्ध अन्तःकरण वाला भक्त अपने बाहर, भीतर और सभी प्राणियों में तथा अपने हृदय में भी मुझे ही स्थित देखे। जिसकी इस प्रकार की दृष्टि हो गई वही सच्चा ज्ञानी है'।

इस परम अवस्था को पाने की साधना भी बताते हैं – 'जब निरन्तर सभी नर नारियों में मेरी ही भावना की जाती है, तब थोड़े ही दिनों में चित्त से ईर्ष्या, तिरस्कार, अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं। अपने ही लोग हंसी करें तो उनकी परवाह न करें। 'मैं अच्छा हूं और वह बुरा है' ऐसी देह-दृष्टि को छोड़ दें और कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधे को भी दण्डवत् प्रणाम करे। जब तक समस्त प्राणियों में भगवद् भावना न होने लगे तब तक मन, वाणी और शरीर के सभी संकल्पों और कर्मों द्वारा मेरी उपासना करता रहे। अभ्यास करते रहने से थोड़े ही दिनों में उसे सब ब्रम्ह स्वरूप दीखने लगता है। फिर सारे

संदेह और संशय अपने आप निवृत्त हो जाते हैं। यही सर्वश्रेष्ठ साधन है।

उद्धव, यही मेरा अपना भागवत धर्म है। इसको एक बार आरम्भ कर देने के बाद कोई विघ्न बाधा से इसमें रत्तीभर भी अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि यह निष्काम है। इस भागवत धर्म में किसी प्रकार की त्रुटि पड़नी तो दूर रही, यदि इस धर्म का साधक भय-शोक आदि के अवसर पर होने वाली भावना, तथा रोने-पीटने, भागने जैसा निरर्थक कर्म भी निष्काम भाव से मुझे समर्पित कर दे तो वे भी मेरी प्रसन्नता के कारण धर्म बन जाते हैं।

विवेक और चतुराई की पराकाष्ठा इसी में है कि इस विनाशी और असत्य शरीर द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्व को प्राप्त कर लिया जाए'।

इसके बाद इस परम ज्ञान की महिमा और इसे सुनने सुनाने की महिमा बताते हैं और सावधान भी करते हैं कि जो भक्त हो, साधु स्वभाव का हो उसे ही यह प्रसंग सुनाना चाहिए।

‘प्यारे उद्धव, मनुष्यों को ज्ञान, कर्म, योग, वाणिज्य आदि के द्वारा मोक्ष, धर्म, काम और अर्थ रूप फल प्राप्त होते हैं, परन्तु तुम्हारे जैसे अनन्य भक्त के लिए तो वह चारों प्रकार का फल मैं ही हूं । जिस समय मनुष्य समस्त कर्मों का परित्याग करके मुझे आत्म समर्पण कर देता है, उस समय वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है और उसे उसके जीवत्व से छुड़ा कर अमृत स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति करना मेरी जिम्मेदारी हो जाती है। वह मुझसे मिल कर मेरा स्वरूप हो जाता है’।

भगवान की बात सुन कर उद्धव जी की आंखों में आंसू उमड़ आए । प्रेम की बाढ से गला रुंध गया, चुपचाप हाथ जोड़े रह गए और वाणी से कुछ बोला न गया । उनका चित्त प्रेमावेश से विह्वल हो रहा था । अब विदा लेने का समय आ गया था।

उन्होंने बड़ी कठिनाई से धैर्य धारण किया और अपने को बहुत सौभाग्यशाली मानते हुए भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति की । फिर कहा – ‘महायोगेश्वर, मेरा आपको नमस्कार है । आप कृपा करके मुझ शरणागत को ऐसी आज्ञा दीजिये जिससे आपके चरणकमलों में मेरी अनन्य भक्ति बनी रहे’।

भगवान ने कहा- ‘उद्धव, अब तुम मेरी आज्ञा से बदरीवन चले जाओ। वह मेरा ही आश्रम है। किसी भोग की अपेक्षा मत रखना, सर्दी गर्मी, सुख-दुख आदि को सम रहकर सहन करना। मैंने तुम्हें जो शिक्षा दी है, उसका एकांत में विचारपूर्वक अनुभव करते रहना। अपनी वाणी और चित्त मुझमें ही लगाए रखना और मेरे बतलाए हुए भागवतधर्म में प्रेम से रम जाना। अन्त में तुम मेरे परमार्थ स्वरूप में मिल जाओगे’।

इसमें संदेह नहीं कि उद्धव जी संयोग-वियोग से होने वाले सुख-दुख के जोड़े से परे थे क्योंकि वे भगवान के चरणों की शरण ले चुके थे, लेकिन उन्हीं के वियोग की कल्पना से उद्धव जी कातर हो गए। बार बार विह्वल होकर मूर्छित होने लगे। कुछ समय बाद उन्होंने भगवान की चरण पादुकाएं अपने सर पर रख ली और बार बार उनके चरणों में प्रणाम करके वहां से प्रस्थान किया।

भगवान की दिव्य छवि हृदय में धारण किये हुए उद्धव जी बदरिकाश्रम पहुंचे और उनके उपदेशानुसार उनकी स्वरूपभूत परम गति प्राप्त की।

ॐ तत् सत्

***